गीता-दर्शन

•

आचार्य रजनीश

सम्पादक
स्वामी योग चिन्मय

•

संकलन
वीणा श्यामसुन्दर

जीवन-जागृति केन्द्र
प्रकाशन

गीता-दर्शन

[गीता के तीसरे अध्याय के शुरू के २१ श्लोकों पर किये गये प्रथम पाँच प्रवचन]

पुष्प : ५

•

आचार्य रजनीश

संकलन : **वीणा श्यामसुन्दर**

•

सम्पादन : **स्वामी योग चिन्मय**

प्रकाशक :
ईश्वरलाल एन० शाह,
मंत्री, जीवन जागृति केंद्र,
५३, एम्पायर बिल्डिंग,
डॉ० डी० एन० रोड,
फोर्ट, बम्बई–१
फोन नं० २६४५३०

प्रथम संस्करण : मार्च १९७१
प्रति : ५०००
मूल्य : रु० ५·००

मुद्रक :
ओम् प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वाराणसी ७०२४–२७

गीता-दर्शन : एक प्रस्तावना

जीवन है विस्तार—अनन्त रहस्यों का—अनन्त आयामों में। इसलिए जो भी व्यक्ति जीवन को उसकी समग्रता में जीता है, वह स्वयं भी रहस्यमय हो जाता है। और तब, अनन्त आयामों में, उसके व्यक्तित्व से जीवन ही झाँकता है। ऐसे व्यक्ति को समझने, जानने व अनुभव करने के लिए हमें भी अनन्त आयामों में अपने व्यक्तित्व को विकसित करना होता है।

लेकिन कैसे संभव है कि व्यक्तित्व अनन्त आयामों में विकसित हो सके! निश्चित ही इसके लिए व्यक्ति को मिटना होगा, खोना होगा, विसर्जित होना होगा, तभी वह स्वयं न रह कर अनन्त व असीम हो पाता है।

कृष्ण ऐसे ही रहस्यमय व्यक्ति हैं जिन्होंने जीवन को उसकी समग्रता व पूर्णता में जिया है। उनकी सारी लीलाएँ और उनकी सारी अभिव्यक्तियाँ जीवन के इस विराट् सत्य को निःशब्द से तथा शब्द से अभिव्यक्त करने की ही कहानी है।

गीता कृष्ण के कुछ ऐसे ही विशिष्ट वचनों का संग्रह है जिसमें उन्होंने जीवन के विराट् सत्य व रहस्य को शब्दों में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसलिए असली गीता तो वहाँ शुरू होती है जहाँ शब्द और विचार खो जाते हैं और अतल मौन में केवल जागृत चेतना ही रह जाती है—अस्तित्व मात्र रह जाता है।

गीता को सूत्रवत् शब्दों में लिखा गया, अतः बाद में उस पर बहुत-कुछ कहा व लिखा गया है। लेकिन, बहुधा गीता पर कुछ लिखने वाला या प्रवचन करने वाला व्यक्ति स्वयं के व्यक्तित्व व दृष्टिकोणों को गीता पर आरोपित करता रहा है। और यदि जरा भी आग्रह रहा तो गीता की व्याख्या अनन्त आयामी न होकर विशिष्ट-आयामी हो जाती है। जैसे आदि-शंकराचार्य ने गीता को ज्ञान से आच्छादित कर दिया है और रामानुजाचार्य ने भक्ति से तथा गांधी और तिलक ने कर्म से।

लेकिन, गीता के सूत्रों के साथ तो केवल वही व्यक्ति न्यायपूर्ण व्यवहार कर सकता है जिसका स्वयं का व्यक्तित्व कृष्ण जैसा ही बहु-आयामी हो। जो अब व्यक्ति नहीं, वरन् जीवन का अनन्त विस्तार ही रह गया हो। जो एक ऐसा महा-शून्य रूपी दर्पण हो गया हो जिसमें पुनः कृष्ण का सारा व्यक्तित्व प्रतिफलित व प्रति-संवादित हो सकता हो।

आचार्यश्री रजनीश ने भी गीता पर बोलना शुरू किया है। और यह तो प्रज्ञावान् व सरल-सहज लोग ही समझ व देख पायेंगे कि आचार्यश्री क्या किसी विशेष दृष्टिकोण व आग्रह को लेकर गीता पर बोल रहे हैं अथवा **एक मुक्त, आनन्दित व परम-शून्यता में जीनेवाला व्यक्तित्व गीता के सूत्रों के आधार पर कृष्ण के व्यक्तित्व को ही पुनः प्रतिबिम्बित व प्रतिध्वनित कर रहा है।**

प्रस्तुत प्रवचन-माला द्वितीय गीता-ज्ञान-यज्ञ, बम्बई में दिनांक २८ दिसम्बर, १९७० से ७ जनवरी, १९७१ तक गीता के तीसरे अध्याय पर दिये गये १० प्रवचनों का अर्धांश (पुष्प–५) है। इसका दूसरा हिस्सा पुष्प–६ शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

गीता के प्रथम व द्वितीय अध्याय पर दिनांक २९ नवम्बर से ७ दिसम्बर, १९७० तक आचार्यश्री के जो अठारह प्रवचन अहमदाबाद में हुए हैं, उन्हें अलग से ४ खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है। इसी प्रकार ३० जनवरी से ७ फरवरी, १९७१ तक पूना में चौथे अध्याय पर आचार्यश्री के अठारह प्रवचन हुए हैं, जिन्हें भी अलग ४ खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है।

इस प्रकार पूरी गीता पर लगभग **साढ़े तीन हजार पृष्ठों का ऐतिहासिक** साहित्य निर्मित हो सकेगा।

सारे प्रवचन यद्यपि एक श्रृंखला के हिस्से हैं, फिर भी वे अपने-आप में पूर्ण हैं। और जैसा कि प्रत्येक पाठक देख पायेगा, वे प्रवचन आज तक गीता पर लिखे व कहे गये सभी भाष्य व प्रवचनों से अनूठे व अद्वितीय होंगे। इन प्रवचनों में साधक गण अनेक मार्गों का अत्यन्त ही **प्रायोगिक व अनुभव-सिद्ध** विवरण पायेंगे।

इन प्रवचन-मालाओं से देश की विशाल जनता कृष्ण के व्यक्तित्व को उसके बहु-आयामों में तथा समग्रता में देख व स्वीकार कर पायेगी और जीवन की अनेक अन्तर्विरोधी (Controversial) समस्याएँ उनके समक्ष अपनी पूर्ण स्पष्टता में प्रकट हो सकेंगी तथा अन्तर्दृष्टि, समता व जागरण की ओर प्रेरित करेगी।

इस आशा के साथ प्रस्तुत है—गीता-दर्शन (पुष्प–५)।

—स्वामी योग चिन्मय के प्रणाम

ए–१, वुडलेण्ड्स,
पेडर रोड,
बम्बई–२६
दिनांक १० मार्च, १९७१

आचार्य रजनीश : एक परिचय

आचार्य रजनीश वर्तमान युग के एक युवा-द्रष्टा, कान्तिकारी विचारक, आधुनिक संत, रहस्यदर्शी-ऋषि और जीवन-सर्जक हैं।

वैसे तो धर्म, अध्यात्म व साधना में ही उनका जीवन-प्रवाह है, लेकिन कला, साहित्य, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, आधुनिक विज्ञान आदि में भी वे अनूठे और अद्वितीय हैं।

जो भी वे बोलते हैं, करते हैं, वह सब जीवन की आत्यंतिक गहराइयों व अनुभूतियों से उद्भूत होता है। वे हमेशा जीवन-समस्याओं की गहनतम जड़ों को स्पर्श करते हैं। **जीवन को उसकी समग्रता में जानने, जीने और प्रयोग करने के वे जीवन्त प्रतीक हैं।**

जीवन की चरम ऊँचाइयों में जो फूल खिलने संभव हैं उन सबका दर्शन उनके व्यक्तित्व में सम्भव है।

११ दिसम्बर, १९३१ को मध्यप्रदेश के एक छोटे-से गाँव में इनका जन्म हुआ। दिन-दुगुनी और रात-चौगुनी इनकी प्रतिभा विकसित होती रही। सन् १९५७ में उन्होंने सागर विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम० ए० की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण की। वे अपने पूरे विद्यार्थी-जीवन में बड़े क्रान्तिकारी व अद्वितीय जिज्ञासु तथा प्रतिभाशाली छात्र रहे। बाद में वे क्रमशः रायपुर व जबलपुर के दो महाविद्यालयों में क्रमशः १ और ८ वर्ष के लिए आचार्य (प्रोफेसर) के पद पर शिक्षण का कार्य करते रहे। इस बीच उनका पूरे देश में घूम-घूमकर प्रवचन देने व साधना-शिविर लेने का कार्य भी चलता रहा।

बाद में अपना पूरा समय **प्रायोगिक साधना के विस्तार व धर्म के पुनरुत्थान** में लगाने के उद्देश्य से वे सन् १९६६ में नौकरी छोड़ कर आचार्य पद से मुक्त हुए। तब से वे लगातार देश के कोने-कोने में घूम रहे हैं। विराट् संख्या में भारत की जनता की आत्मा का उनसे सम्पर्क हुआ है।

उनके प्रवचनों व साधना-शिविरों से प्रेरणा पाकर अनेक प्रमुख शहरों में उत्साही मित्रों व प्रेमियों ने जीवन जागृति केन्द्र के नाम से एक मित्रों व साधकों का मिलन-स्थल (संस्था) निर्मित किया है। वे आचार्यश्री के प्रवचन व शिविर आयोजित करते हैं तथा पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था करते हैं। जीवन जागृति आन्दोलन का प्रमुख कार्यालय बम्बई में लगभग ८ वर्षों से कार्य कर रहा है। अब तो आचार्यश्री भी अपने जबलपुर के निवासस्थान को छोड़कर

१ जुलाई, १९७० से स्थायी रूप से बम्बई में आ गये हैं, ताकि जीवन जागृति आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय रूप को सहयोग मिल सके।

जीवन जागृति आन्दोलन की ओर से एक मासिक पत्रिका 'युकान्द' (युवक क्रान्ति दल का मुख-पत्र) पिछले दो वर्षों से तथा एक त्रैमासिक पत्रिका 'ज्योति शिखा' पिछले पाँच वर्षों से प्रकाशित हो रही है। आचार्यश्री के प्रवचनों का संकलन ही पुस्तकाकार में प्रकाशित कर दिया जाता है। अब तक लगभग २२ बड़ी पुस्तकें तथा २० छोटी पुस्तिकाएँ मूल हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। अधिकतर पुस्तकों के गुजराती, अंग्रेजी व मराठी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। १२ नयी अप्रकाशित पुस्तकें प्रेस के लिए तैयार पड़ी हैं। अब तक आचार्यश्री प्रवचन-मालाओं में तथा साधना-शिविरों में लगभग २००० घण्टे जीवन, जगत् व साधना के सूक्ष्मतम व गहनतम विषयों पर सविस्तार चर्चाएँ कर चुके हैं।

अब भारत के बाहर भी अनेक देशों में उनकी पुस्तकें लोगों की प्रेरणा व आकर्षण का केन्द्र बनती जा रही हैं। **हजारों की संख्या में देशी व विदेशी साधक उनसे विविध गूढ़तम साधना-पद्धतियों एवं प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में प्रेरणा पा रहे हैं।** योग व अध्यात्म के सन्देश व प्रयोगात्मक जीवन-क्रान्ति के प्रसार हेतु विभिन्न देशों से उनके लिए आमंत्रण आने शुरू हो गये हैं। शीघ्र ही भारत ही नहीं, वरन् अनेक पाश्चात्य देशवासी भी उनके व्यक्तित्व से प्रेरणा व सृजन की दिशा पा सकेंगे।

२५ सितम्बर १९७० से मनाली में आयोजित एक दस दिवसीय साधना-शिविर में आचार्यश्री के जीवन का एक नया आयाम सामने आया। उन्होंने वहाँ कहा कि संन्यास, जीवन की सर्वोच्च समृद्धि है, अतः उसे पूर्णता में सुरक्षित रखा जाना चाहिए। उन्हें वहाँ प्रेरणा हुई कि वे संन्यास-जीवन को एक नया मोड़ देने में सहयोगी हो सकेंगे और **नाचते हुए, गीत गाते हुए, आनन्दमग्न, समस्त जीवन को आलिंगन करनेवाले, सशक्त व स्वावलम्बी संन्यासियों के वे** साक्षी बन सकेंगे शिविर में तथा उसके बाद भी अनेक व्यक्तियों ने सीधे परमात्मा से सावधिक (Periodical) संन्यास की दीक्षा ली। आचार्यश्री इस घटना के साक्षी रहे।

इस "**अभिनव संन्यास आन्दोलन**" में अब तक १३७ व्यक्तियों ने संन्यास के जीवन में प्रवेश किया है। कुछ ही वर्षों में इनकी संख्या सैकड़ों व हजारों की होनेवाली है। **ये संन्यासी जीवन की पूर्ण सघनता व व्यवहार में सक्रिय भाग लेने के साथ ही साथ विशिष्ट साधना-पद्धतियों में रत हैं।** इस दिशा में संन्यासियों का एक 'कम्यून' 'विश्वनीड़' के नाम से संस्कार-तीर्थ, पोस्ट–आजोल, ताल्का-बीजापुर, जिला–महेसाणा, गुजरात में कार्यरत हो चुका है।

ये संन्यासी आचार्यश्री रजनीश की नयी जीवन-दृष्टि, जीवन-सृजन, जीवन-**शिक्षा एवं प्रायोगिक धर्म-साधना के बहु-आयामों में निपुण एवं सक्षम होकर भारत एवं विश्व के कोने-कोने में धर्म व संस्कृति के पुनरुत्थान तथा 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' हेतु बाहर निकल रहे हैं।**

आचार्यश्री का व्यक्तित्व अथाह सागर जैसा है। उनके सम्बन्ध में संकेत मात्र ही हो सकते हैं। जैसे कि जो व्यक्ति परम आनन्द, परम शान्ति, परम मुक्ति, परम निर्वाण को उपलब्ध होता है उसकी श्वास से, रोयें-रोयें से, प्राणों के कण-कण से संगीत, एक गीत, एक नृत्य, एक आह्लाद, एक सुगन्ध, एक आलोक, एक अमृत की प्रतिपल वर्षा होती रहती है और समस्त अस्तित्व उससे नहा उठता है। इस संगीत, इस गीत, इस नृत्य को कोई प्रेम कहता है, कोई आनन्द कहता है और कोई मुक्ति कहता है। लेकिन, वे सब एक ही सत्य को दिये गये अलग-अलग नाम हैं।

ऐसे ही एक व्यक्ति हैं—आचार्य रजनीश, जो मिट गये हैं, शून्य हो गये हैं। जो अस्तित्व व अनस्तित्व के साथ एक हो गये हैं। जिनकी श्वास-श्वास अन्तरिक्ष की श्वास हो गयी है। जिनके हृदय की धड़कनें चाँद-तारों की धड़कनों के साथ एक हो गयी हैं। जिनकी आँखों में सूरज-चाँद-सितारों की रोशनी देखी जा सकती है। जिनकी मुस्कराहटों में समस्त पृथ्वी के फूलों की सुगन्ध पायी जा सकती है। जिनकी वाणी में पक्षियों के प्रातः गीतों की निर्दोषता व ताजगी है। और जिनका सारा व्यक्तित्व ही एक कविता, एक नृत्य व एक उत्सव हो गया है।

इस नृत्यमय, संगीतमय, सुगन्धमय, आलोकमय व्यक्तित्व से प्रतिपल निकलनेवाली प्रेम की, करुणा की लहरों के साथ जब लोगों की जिज्ञासा व मुमुक्षा का संयोग होता है तब प्रवचनों के रूप में उनसे ज्ञान-गंगा बह उठती है।

उनके प्रवचनों में जीवन के, जगत् के, साधना के, उपासना के विविध रूपों व रंगों का स्पर्श है। उनमें पाताल की गहराइयाँ हैं और विराट् अन्तरिक्ष की ऊँचाइयाँ हैं। देश व काल की सीमाओं के अतिक्रमण के बाद जो महाशून्य और निःशब्द की अनुभूति शेष रह जाती है उसे शब्दों में, इशारों में, मुद्राओं में व्यक्त करने का सफल-असफल प्रयास भी उनके प्रवचनों में रहता है।

उनके प्रवचन सूत्रवत् हैं, सीधे हैं, हृदय-स्पर्शी हैं, मीठे हैं, तीखे हैं और साथ ही पूरे व्यक्तित्व को झकझोरने व जगानेवाले भी हैं। **उनके प्रवचनों और ध्यान के प्रयोगों से व्यक्ति की निद्रा, प्रमाद व मूर्च्छा टूटती है और वह अन्तः व बाह्य रूपान्तरण, जागरण और क्रान्ति में संलग्न हो जाता है।**

●

गीता-दर्शन

●

गीता के तीसरे अध्याय : "कर्म-योग" के प्रथम २१ श्लोकों पर
आचार्यश्री रजनीश के प्रवचन
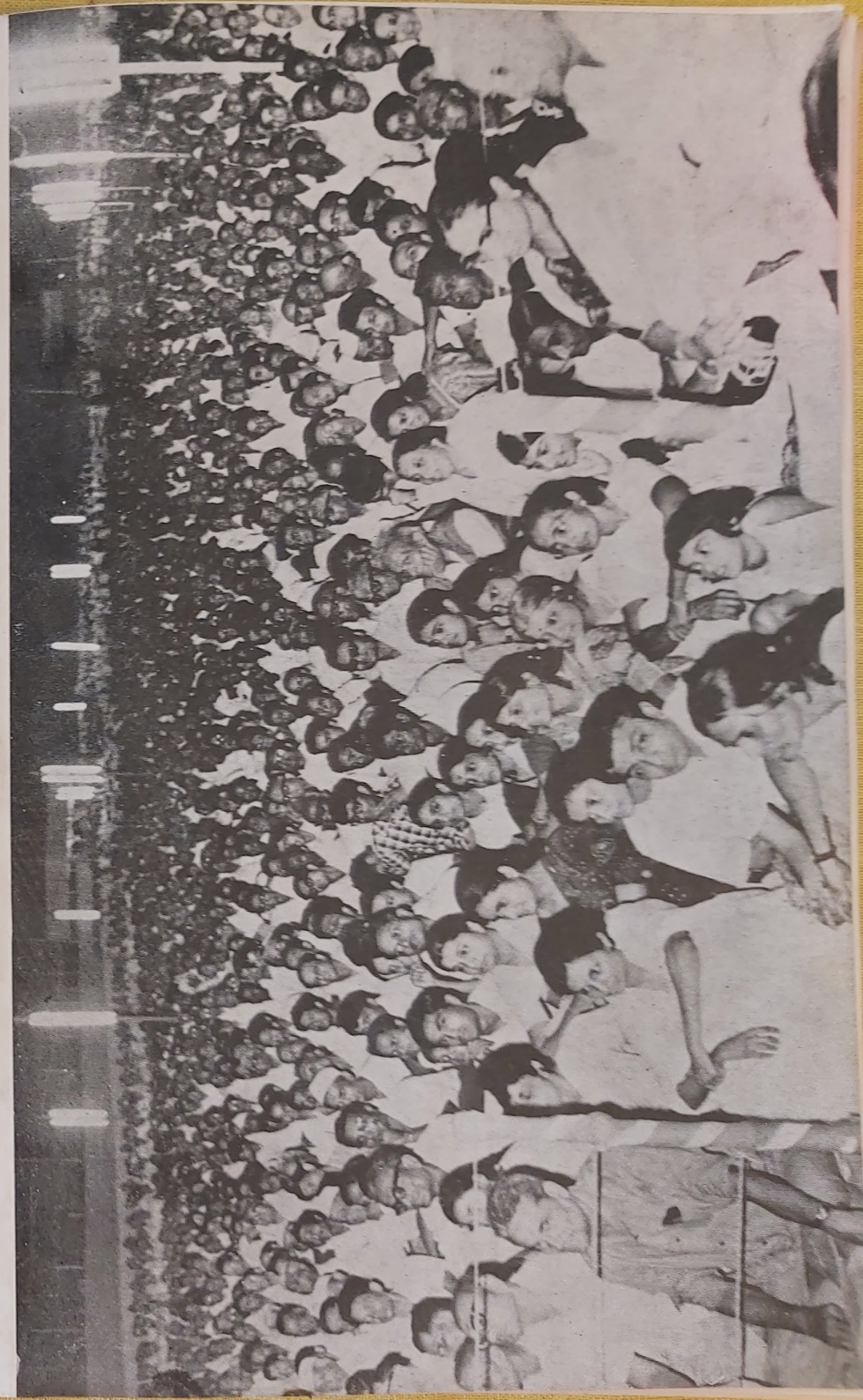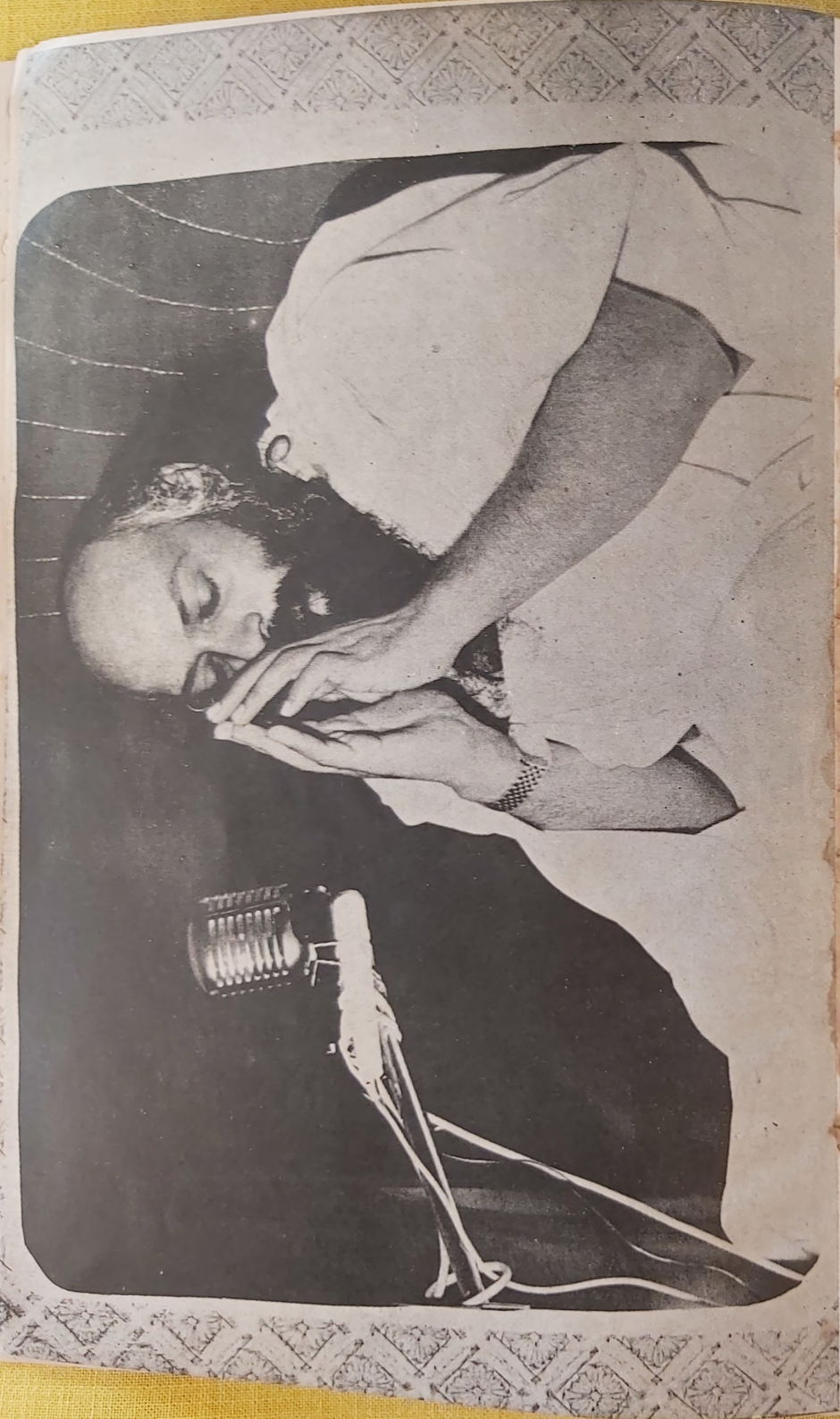
पहला प्रवचन

•

गीता-ज्ञान-यज्ञ, बम्बई, रात्रि, दिनांक २९ दिसम्बर १९७०

गीता अध्याय तीसरा

अर्जुन उवाच :

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।१।।

अर्थ : "हे जनार्दन ! यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव, मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते है ?"

आचार्य श्री : जीवन का सत्य कर्म से उपलब्ध है या ज्ञान से ? यदि कर्म से उपलब्ध है तो उसका अर्थ होगा कि वह हमें आज नहीं मिला हुआ है, श्रम करने से कल मिल सकता है । यदि कर्म से उपलब्ध होगा तो उसका अर्थ है कि वह हमारा स्वभाव नहीं है, अर्जित वस्तु है । यदि कर्म से उपलब्ध होगा तो उसका अर्थ है कि उसे विश्राम में खो देंगे, क्योंकि **जिसे हम कर्म से पाते हैं उसे निष्कर्म से खोया जा सकता है ।** निश्चित ही जीवन का सत्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कर्म करने से मिलेगा । **जीवन का सत्य मिला ही हुआ है । उसे हमने कभी खोया नहीं है,** उसे हम चाहें तो भी खो नहीं सकते हैं । हमारे प्राणों का प्राण वही है । फिर हमने खोया क्या है ? हमने सिर्फ उसकी स्मृति खोयी है, उसकी सुरति खोयी है । हमारे पास जो मौजूद है उसे हम केवल जान नहीं पा रहे हैं । हमारी आँखें बन्द हैं, रोशनी मौजूद है । हमारे द्वार बन्द हैं, सूरज मौजूद है । सूरज को पाना नहीं है, द्वार खोलना है । सूरज मिला ही हुआ है ।

कृष्ण ने अर्जुन को इस सूत्र के पहले सांख्य योग की बात कही । कृष्ण ने कहा कि जो पाने जैसा है वह मिला ही हुआ है । जो जानने जैसा है, वह निकट से भी निकट है । उसे हमने कभी खोया नहीं है । वह हमारा स्वरूप है । तो अर्जुन पूछ रहा है, यदि जो जानने योग्य है—जो पाने योग्य है वह मिला ही हुआ है और यदि जीवन की मुक्ति और जीवन का आनन्द मात्र ज्ञान पर निर्भर है तो मुक्त गरीब को इस महाकर्म में क्यों धक्का दे रहे हैं ।

कृष्ण ने सांख्य की जो दृष्टि समझायी है, अर्जुन उस पर नया प्रश्न खड़ा कर रहा है। कुछ बातें सांख्य की दृष्टि को समझ लेने के लिए जरूरी है। दुनिया में, सारे जगत् में मनुष्य जाति ने जितना चिंतन किया है उसे दो धाराओं में बाटा जा सकता है। सच तो यह है कि बस दो ही प्रकार के चिन्तन पृथ्वी पर हुए हैं, शेष सारे चिन्तन कहीं न कहीं उन दो श्रृंखलाओं से बँध जाते हैं। एक चिन्तन का नाम है सांख्य और दूसरे चिन्तन का नाम है योग—बस दो ही नाम सिस्टम (साधन-प्रणाली) थे सारे जगत् में। जिन्होंने सांख्य का और योग का नाम भी नहीं सुना है—चाहे अरस्तू, चाहे सुकरात, चाहे अब्राहीम, चाहे इजेकिल, चाहे लाओत्से, चाहे कन्फ्यूसियस—जिन्हें सांख्य और योग के नाम का भी कोई पता नहीं है वे भी इन दोनों में से किसी एक में ही खड़े होंगे।

बस दो ही तरह की निष्ठाएँ हो सकती हैं। सांख्य की निष्ठा है कि सत्य सिर्फ ज्ञान से ही जाना जा सकता है कुछ और करना जरूरी नहीं है—कृत्य की, कर्म की कोई भी आवश्यकता नहीं। प्रयास की, प्रयत्न की, श्रम की, साधना की कोई भी जरूरत नहीं। क्योंकि जो भी खोया है हमने वह खोया नहीं केवल स्मृति खो गयी है। इसलिए याद पर्याप्त है, रिमेम्बरिंग पर्याप्त है—करने का कोई भी सवाल नहीं। योग की मान्यता है कि बिना किये कुछ भी नहीं हो सकेगा। साधन के बिना नहीं पहुँचा जा सकता है। क्योंकि योग का कहना है अज्ञान को भी काटना पड़ेगा। उसके काटने में भी श्रम करना होगा।

अज्ञान कुछ ऐसा नहीं है—जैसा अँधेरा है कि दिया जलाया और अज्ञान चला गया। अँधेरा कुछ ऐसा है जैसे एक आदमी जंजीरों से बँधा पड़ा है। माना कि स्वतन्त्रता उसका स्वभाव है, लेकिन जंजीरें काटे बिना स्वतन्त्रता के स्मरण मात्र से वह मुक्त नहीं हो सकता है। सांख्य मानता है अज्ञान अँधेरे की भाँति है, जंजीरों की भाँति नहीं। इसलिए दिया जलाया कि अँधेरा गया। ज्ञान हुआ कि अज्ञान गया। योग कहता है अज्ञान का भी अस्तित्व है, उसे भी काटना पड़ेगा। दो तरह की निष्ठाएँ हैं जगत् में – सांख्य की और योग की।

कृष्ण ने दूसरे अध्याय में अर्जुन को सांख्य की निष्ठा के सम्बन्ध में बताया है। उन्होंने कहा है कि ज्ञान पर्याप्त है, ज्ञान परम है, अल्टीमेट है। सॉक्रेटीज ने ठीक ऐसी ही बात यूनान में कही है। सॉक्रेटीज को हम पश्चिम में सांख्य का व्यवस्थापक कह सकते हैं। सॉक्रेटीज ने कहा है : ज्ञान ही चरित्र है। कुछ और करना नहीं है, जान लेना काफी है। जो हम जान लेते हैं उससे हम मुक्त हो जाते हैं। कृष्णमूर्ति जो भी कहते हैं वह सांख्य की निष्ठा है। वह निष्ठा यह है कि जानना काफी है। 'To know the False as False is enough.'

गलतको गलत जान लेना काफी है, फिर कुछ और करना नहीं पड़ेगा, वह तत्काल गिर जायगा। कुन्दकुन्द ने 'समय-सार' में जो कहा है वह सांख्य की निष्ठा है। ज्ञान अपने आपने आप में पूर्ण है, किसी कर्म की कोई जरूरत नहीं है।

अर्जुन पूछता है कि यदि ऐसा है कि ज्ञान काफी है तो मुझे इस भयंकर युद्ध के कर्म में उतरने के लिए आप क्यों कहते हैं। तो मैं जाऊँ, कर्म को छोड़ूँ और ज्ञान में लीन हो जाऊँ। यदि ज्ञान ही पाने जैसा है तो फिर मुझे ज्ञान के मार्ग पर ही जाने दें। अर्जुन भागना चाहता है। और यह बात समझ लेना जरूरी है कि हम अपने प्रत्येक काम के लिए तर्क जुटा लेते हैं। अर्जुन को ज्ञान से कोई भी प्रयोजन नहीं। अर्जुन को सांख्य से कोई भी प्रयोजन नहीं है। अर्जुन को आत्मज्ञान की कोई जिज्ञासा अभी पैदा नहीं हो गयी है। अर्जुन को प्रयोजन इतनी ही बात से है कि सामने जो युद्ध का विस्तार दिखायी पड़ रहा है, उससे वह भयभीत हो गया है, डर गया है। लेकिन वह यह स्वीकार करने को राजी नहीं कि मैं भय के कारण हटना चाहता हूँ। हममें से कोई भी कभी स्वीकार नहीं करता कि हम भय के कारण हटते हैं। अगर हम भय के कारण भी हटते हैं तो हम और कारण खोज कर रेशनलाइजेशन (बुद्धि-संगत-व्याख्या) कर लेते हैं। अगर हम भय के कारण भी भागते हैं तो हम यह मानने को कभी राजी नहीं होते कि हम भय के कारण भाग रहे हैं। हम कुछ और कारण खोज लेते हैं।

अर्जुन कह रहा है कि यदि ज्ञान बिना कर्म के मिलता है तो मुझे कर्म में धक्का क्यों देते हो ? ज्ञान पाने के लिए अगर अर्जुन यह कहे तो कृष्ण पहले आदमी होंगे जो उससे राजी हो जायेंगे। लेकिन वह फाल्स जस्टीफिकेशन, (झूठी तर्क-संगति) है। अर्जुन एक झूठा तर्क खोज रहा है। वह कह रहा है कि मुझे भागना है, मुझे निष्क्रिय होना है और आप कहते हैं कि ज्ञान ही काफी है तो कृपा करके मुझे कर्म से भाग जाने दें। उसका जोर कर्म से भागने में है। उसका जोर ज्ञान को पाने में नहीं है। यह फर्क समझ लेना एकदम जरूरी है, क्योंकि इससे ही कृष्ण जो आगे कहेंगे उसे समझा जा सकता है।

अर्जुन का जोर इस बात में नहीं है कि ज्ञान पा ले, अर्जुन का जोर इस बात पर है कि कर्म से कैसे बच जाय। अगर सांख्य कहता है कि कर्म बेकार है तो अर्जुन कहता है कि सांख्य ठीक है—मुझे जाने दो। सांख्य ठीक है इसलिए अर्जुन नहीं भागता है। अर्जुन को भागना है इसलिए सांख्य ठीक मालूम पड़ता है। और इसे अपने मन में भी थोड़ा सोच लेना आवश्यक है। हम भी जिन्दगी भर यही करते हैं। जो हमें ठीक मालूम पड़ता है वह ठीक होता है इसलिए ठीक नहीं मालूम पड़ता है। सौ में से निन्यानबे मौके पर जो हमें करना है, हम उसे ठीक

बता देते हैं। हमें हत्या करनी है तो हम हत्या को भी ठीक बना लेते हैं, हमें चोरी करनी है तो हम चोरी को भी ठीक बना लेते हैं, हमें बेईमानी करनी है तो हम बेईमानी को भी ठीक बना लेते हैं। हमें जो करना है वह पहले है और हमारे तर्क केवल हमारे करने के लिए सहारे बनते हैं।

फ्रायड ने भी इस सत्य को बहुत ही प्रगाढ़ रूप से स्पष्ट किया है। फ्रायड का कहना है कि आदमी में इच्छा पहले और तर्क सदा पीछे। वासना पहले है, दर्शन पीछे। इसलिए वह जो करना चाहता है उसके लिए तर्क खोज लेता है। अगर उसे शोषण करना है तो वह उसके लिए तर्क खोज लेगा। अगर उसे स्वच्छन्दता चाहिए तो उसके लिए तर्क खोज लेगा। अगर अनैतिकता चाहिए तो उसके लिए तर्क खोज लेगा।

आदमी की वासना पहले है और तर्क केवल वासना को मजबूत करने का सहारा है। स्वयं के लिए आदमी वासना को भी तर्क युक्त सिद्ध करने का काम करता है। इसलिए फ्रायड ने कहा है कि आदमी रेशनल (बुद्धि-संगत) नहीं है। आदमी बुद्धिमान् है नहीं, सिर्फ दिखायी पड़ता है। आदमी उतना ही बुद्धिहीन है जितने पशु—फर्क इतना ही है कि पशु अपनी बुद्धिहीनता के लिए किसी दर्शन (फिलॉसफी) का आवरण नहीं बनाते। पशु अपनी बुद्धिमानी को सिद्ध करने के लिए कोई प्रयास नहीं करते। वे अपनी बुद्धिहीनता में जीते हैं और बुद्धिमानी का कोई तर्कयुक्त जाल खड़ा नहीं करते। आदमी ऐसा पशु है जो अपनी पशुता के लिए परमात्मा तक का सहारा खोजने की कोशिश करता है।

अर्जुन यही कहता है। लेकिन कृष्ण की आँख से बचना मुश्किल है। अन्यथा अगर सांख्य की दृष्टि अर्जुन की समझ में आ जाय कि ज्ञान ही काफी है तो अर्जुन कृष्ण से एक भी सवाल नहीं पूछेगा। बात खत्म हो गयी, वह उठेगा, नमस्कार करेगा और कहेगा कि जाता हूँ। जेन फकीरों के मॉनेस्ट्री में, आश्रम में एक छोटा सा नियम है। जापान में जब भी कोई साधक किसी गुरु के पास ज्ञान सीखने आता है तो गुरु उसे बैठने के लिए चटाई दे देता है और कहता है कि जिस दिन बात तुम्हारी समझ में आ जाये उस दिन चटाई को गोल करके दरवाजे से बाहर निकल जाना तो मैं समझ जाऊँगा कि बात समाप्त हो गयी और जब तक समझ में न आये जब तक तुम बाहर चले जाना, चटाई तुम्हारी यहीं पड़ी रहने देना। रोज लौट आना, उसी चटाई पर बैठना, पूछना, खोजना। जिस दिन तुम्हें लगे कि बात पूरी हो गयी उस दिन धन्यवाद भी मत देना। क्योंकि जब ज्ञान हो जाता है तब कौन किसको धन्यवाद दे! कौन गुरु, कौन शिष्य? और जिस दिन ज्ञान हो जाता है उस दिन कौन कहे कि

मुझे ज्ञान हो गया है, क्योंकि मैं भी तो नहीं बचता है। तो तुम अपनी चटाई गोल करके चले जाना तो मैं समझूँगा कि बात पूरी हो गयी।

अगर अर्जुन को सांख्य समझ में आ गया है तो वह चटाई गोल करेगा और चला जायेगा। उसकी समझ में कुछ आया नहीं। हाँ, उसे एक बात आयी कि मैं जो ऐस्केप, पलायन करना चाहता हूँ कृष्ण से ही उसकी दलील मिल रही है— कृष्ण कहते हैं ज्ञान ही काफी है। यह सांख्य की निष्ठा है और सांख्य की निष्ठा परम निष्ठा है—मनुष्य जो श्रेष्ठतम सोच सका है आज तक वह सांख्य के सार सूत्र हैं। क्योंकि ज्ञान अगर सच में ही घटित हो जाय तो जिन्दगी में कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता। फिर कुछ भी ज्ञान के प्रतिकूल करना असम्भव है। लेकिन तब अर्जुन को पूछने की जरूरत न रहती, बात समाप्त हो जाती। लेकिन वह पूछता है—हे कृष्ण, आप कहते हैं कि ज्ञान ही परम है तो फिर मुझे इस युद्ध की झंझट में इस कर्म में क्यों डालते हैं? **अगर उसे ज्ञान ही हो जाय तो युद्ध झंझट न हो।**

ज्ञानवान् को जगत् में कोई भी झंझट नहीं रह जाती। इसका यह मतलब नहीं है कि झंझटें समाप्त हो जाती हैं, इसका मतलब सिर्फ इतना ही है **कि ज्ञानवान् को झंझट, झंझट नहीं खेल मालूम पड़ने लगती है।** अगर उसे ज्ञान हो जाय तो वह यह न कहेगा कि इस भयंकर कर्म में मुझे क्यों डालते हो? क्योंकि **जिसे अभी कर्म भयंकर दिखायी पड़ रहा है उसे ज्ञान नहीं हुआ। क्योंकि ज्ञान हो जाय तो कर्म लीला हो जाता है।** ज्ञान हो जाय तो कर्म अभिनय, एक्टिंग हो जाता है। वह नहीं हुआ है। इसलिए कृष्ण को गीता आगे जारी रखनी पड़ेगी।

सच तो यह है कि कृष्ण ने जो श्रेष्ठतम है वह अर्जुन से पहले कहा। इससे बड़ी भ्रान्ति पैदा हुई है। सबसे पहले कृष्ण ने सांख्य की निष्ठा की बात कही— वह श्रेष्ठतम है। साधारणतया कोई दूसरा आदमी होता तो अंत में कहता। दूकानदार अगर कोई होता कृष्ण की जगह तो जो श्रेष्ठतम है उसके पास उसे अन्त में दिखाता। निकृष्ट को बेचने की पहले कोशिश चलती। अन्त में जब निकृष्ट खरीदने को ग्राहक राजी न होता तो वह श्रेष्ठतम दिखाता। कृष्ण कोई दूकानकार नहीं हैं वह कुछ बेच नहीं रहे हैं। वह श्रेष्ठतम अर्जुन से पहले कह देते हैं कि सांख्य की निष्ठा श्रेष्ठतम है वह मैं तुझे कहे देता हूँ। अगर उससे बात पूरी हो जाय तो उसके ऊपर फिर कुछ बात करने को नहीं बचती है।

दूसरे अध्याय पर गीता खत्म हो सकती थी अगर अर्जुन पात्र होता, लेकिन अर्जुन पात्र सिद्ध नहीं हुआ। कृष्ण को श्रेष्ठ से एक कदम नीचे उतर कर बात शुरू करनी पड़ी। अगर श्रेष्ठतम समझ में न आये तो फिर श्रेष्ठ से नीचे समझाने की

वे कोशिश करते। अर्जुन का सवाल बता देता है **कि सांख्य उसकी समझ में नहीं पड़ा। क्योंकि सांख्य समझाने के बाद प्रश्न गिर जाते हैं। इसे भी ख्याल** में ले लें।

आमतौर से हम सोचते हैं कि समझदार को सब उत्तर मिल जाते हैं, गलत है यह बात। समझदार को उत्तर नहीं मिलते, समझदार के प्रश्न गिर जाते हैं। समझदार के पास प्रश्न नहीं बचते। असल में समझदार के पास पूछनेवाला ही नहीं बचता है। असल में समझ में कोई प्रश्न ही नहीं है। ज्ञान निष्प्रश्न है, क्योंकि ज्ञान में कोई प्रश्न उठता नहीं। **ज्ञान मौन और शून्य है।** वहाँ कोई प्रश्न बनता नहीं। ऐसा नहीं कि ज्ञान में सब उत्तर हैं बल्कि ऐसा कि ज्ञान में कोई प्रश्न नहीं है। ज्ञान प्रश्न शून्य है।

अगर सांख्य समझ में आता तो अर्जुन के प्रश्न गिर जाते। लेकिन, वह अपनी जगह फिर खड़ा हो गया है। अब वह सांख्य को ही आधार बनाकर प्रश्न पूछता है। अब ऐसा दिखाने की कोशिश करता है कि सांख्य मेरी समझ में आ गया है तो मैं अब तुमसे कहता हूँ कृष्ण कि मुझे इस भयंकर युद्ध और कर्म में मत डालो। लेकिन उसका भय अपनी जगह खड़ा है। युद्ध से भागने की वृत्ति अपनी जगह खड़ी है। पलायन अपनी जगह खड़ा है। जीवन को गंभीरता से लेने की वृत्ति अपनी जगह खड़ी है। सांख्य कहेगा कि जीवन को गम्भीरता से लेना व्यर्थ है, क्योंकि जो कहेगा कि ज्ञान ही सब कुछ है उसके लिए कर्म गम्भीर नहीं रह जाते। कर्म खेल हो जाते हैं बच्चों के। हम सब जो कर्म में लीन हैं, जो कर्म में रस से भरे हैं या विरस से भरे हैं, कर्म में भाग रहे हैं या कर्म से भाग रहे हैं, **सांख्य की दृष्टि में हम छोटे बच्चों की तरह हैं—जो नदी के किनारे रेत के मकान बना रहे हैं—बड़े कर्म में लीन हैं** और अगर हमारे रेत के मकान को धक्का लग जाता है तो बड़े दुःखी और बड़े पीड़ित हैं।

सांख्य कहता है कि कर्म स्वप्न से ज्यादा नहीं है। अगर यह समझ में आ जाये तो कृष्ण के सामने और प्रश्न उठाने की अर्जुन को कोई जरूरत नहीं। यह समझ में नहीं आया है। फिर भी ना समझी भी समझदारी के प्रश्न खड़े कर सकती है और अर्जुन वैसा ही प्रश्न खड़ा कर रहा है।

प्रश्न : आचार्यश्री, सांख्य तो समझ में थोड़ी आयी है, लेकिन अनुभूति में नहीं आयी है। इसलिए प्रश्न तो उठते ही हैं। अतः कृपया स्पष्ट करें कि ज्ञान निष्ठा अर्थात् सांख्य और कर्म निष्ठा अर्थात् योग क्या अपने में पूर्ण नहीं हैं ? अथवा क्या वे एक दूसरे के पूरक हैं और उनमें विरोध दिखायी पड़ने का क्या कारण है ?

आचार्यश्री : सांख्य और योग में विरोध नहीं है लेकिन सांख्य की दिशा

जिस व्यक्ति के लिए अनुकूल है उसकी योग की दिशा प्रतिकूल है। जिसे योग की दिशा अनुकूल है उसे सांख्य की दिशा प्रतिकूल है। सांख्य और योग में विरोध नहीं है लेकिन इस जगत् में व्यक्ति दो प्रकार के हैं, व्यक्तियों का टाइप दो प्रकार का है। और इसलिए किसी के लिए सांख्य बिलकुल गलत हो सकता है और किसी के लिए योग बिलकुल सही हो सकता है, और किसी के लिए योग बिलकुल गलत हो सकता है सांख्य बिलकुल सही हो सकता है। दो तरह के व्यक्ति हैं जगत् में।

कार्ल गुस्ताव जुंग ने व्यक्तियों के दो मोटे विभाजन किये हैं। एक को वह कहता है एक्स्ट्रोवर्ट, दूसरे को इन्ट्रोवर्ट। एक वे जो बहिर्मुखी हैं, एक वे जो अंतर्मुखी—जो व्यक्ति अंतर्मुखी हैं उनके लिए योग जरा भी काम का नहीं है। **जो व्यक्ति अंतर्मुखी हैं उनके लिए सांख्य पर्याप्त है।** पर्याप्त से ज्यादा है। **जो व्यक्ति बहिर्मुखी है सांख्य उनकी पकड़ में ही नहीं आयेगा, कर्म ही उनकी पकड़ में आयेगा।** क्योंकि ध्यान रहे कर्म के लिए बाहर जाना जरूरी है और ज्ञान के लिए भीतर जाना जरूरी है। कर्म अगर कोई भीतर करना चाहे तो नहीं कर सकता। आप भीतर कर्म कर सकते हैं ? कर्म के लिए बहिर्मुख होना जरूरी है, कर्म के लिए अपने से बाहर निकलना पड़ेगा तो ही कर्म हो सकता है। इस-लिए जितना कर्मठ व्यक्ति होगा उतना अपने से बाहर चला जाता है। चाँद तारों पर चला जाता है। भीतर नहीं आ सकता है।

योग बहिर्मुखी व्यक्ति के लिए मार्ग है, सांख्य अंतर्मुखी व्यक्ति के लिए मार्ग है और इस तरह से दो तरह के व्यक्ति हैं। इन दो तरह के व्यक्तियों में **विरोध है, सांख्य और योग में विरोध नहीं है।** इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है क्योंकि अक्सर व्यक्तियों का विरोध, शास्त्रों का विरोध मालूम पड़ने लगता है। वास्तव में विरोध है नहीं। अब महावीर, बुद्ध, शंकर या नागार्जुन इनके लिए जो भी विरोध हमें मालूम पड़ते हैं, वे इन व्यक्तियों के विरोध हैं। जिस सत्य, जिस अनुभूति, जिस अलौकिक जगत् की वे बात कर रहे हैं, वहाँ कोई विरोध नहीं। लेकिन जिस मार्ग से वे पहुँचे हैं वहाँ भिन्नता है। भिन्नता ही नहीं, विरोध भी है।

अब जैसे एक बहिर्मुखी व्यक्ति है तो उसके लिए धर्म सेवा बनेगी—अंत-र्मुखी व्यक्ति है उसके लिए धर्म ध्यान बनेगा। अंतर्मुखी व्यक्ति के लिए सेवा की बात एकदम से समझ में नहीं आयेगी। बहिर्मुखी व्यक्ति के लिए ध्यान की बात एकदम से समझ में नहीं आयेगी कि भीतर डूबकर क्या होगा ? जो भी है करने का, बाहर है। जो भी होने की संभावना है, बाहर है।

ये दो तरह के व्यक्ति हैं, मोटे हिसाब से। आमतौर से कोई भी व्यक्ति

एकदम एक्स्ट्रोवर्ट (बहिर्मुखी) और एकदम इन्ट्रोवर्ट (अंतर्मुखी) नहीं होता। ये मोटे विभाजन हैं। हम सब मिश्रण होते हैं—कुछ अंतर्मुखी, कुछ बहिर्मुखी। मात्राओं के फर्क होते हैं। कभी होता है कि ९० प्रतिशत व्यक्ति बहिर्मुखी और १० प्रतिशत अंतर्मुखी होता है।

आमतौर से व्यक्ति मिश्रित होते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि व्यक्ति शुद्ध रूप से अंतर्मुखी हो। क्योंकि, **शुद्ध रूप से अंतर्मुखी व्यक्ति एक क्षण भर भी जी नहीं सकता**। भोजन करेगा तो बाहर जाना पड़ेगा, स्नान करेगा तो बाहर जाना पड़ेगा। अंतर्मुखी व्यक्ति अगर १०० प्रतिशत हो तो तत्काल मृत्यु घटित हो जायगी। **बहिर्मुखी व्यक्ति भी अगर १०० प्रतिशत हो तो तत्काल मृत्यु हो जायेगी**। क्योंकि निद्रा भी चाहिए, जिसमें भीतर जाना पड़ेगा। विश्राम भी चाहिए जिसमें अपने में डूबना पड़ेगा। काम से छूटे तो अवकाश भी चाहिए। मित्रों, प्रियजनों से बचाव भी चाहिए, अन्यथा उसका अपने अंतर जीवन के श्रोतों के संबंध टूट जायेगा, और वह समाप्त हो जायेगा। इसलिए यह जो विभाजन है, सैद्धांतिक है। व्यक्ति मात्राओं के फर्क होते हैं। ९० प्रतिशत कोई व्यक्ति बहिर्मुखी हो सकता है, १० प्रतिशत अंतर्मुखी हो सकता है।

अर्जुन एक्स्ट्रोवर्ट (बहिर्मुखी) व्यक्ति है। इसलिए सांख्य की बात उसकी समझ में पड़नी असम्भव है। या इतनी थोड़ी-सी समझ पड़ सकती है कि उससे वह नये सवाल उठा सकता है। लेकिन उससे उसके जीवन का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि अर्जुन बहिर्मुखी है। अर्जुन का सारा जीवन क्षत्रिय के शिक्षण का जीवन है। सारा जीवन कुछ करने में और करने में कुशलता पाने में बीता। सारा जीवन दूसरे को ध्यान में रखकर बीता है—प्रतियोगिता में, प्रतिस्पर्धा में, संघर्ष में, युद्ध में। **अंतर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) आदमी क्षत्रिय नहीं हो सकता है**। और अगर अंतर्मुखी आदमी क्षत्रिय के घर में भी पैदा हो जाय तो भी क्षत्रिय नहीं रह सकता।

जैनियों के चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय के घर में पैदा हुए लेकिन क्षत्रिय नहीं रह सके। वे सब अंतर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) हैं। महावीर अंतर्मुखी व्यक्ति हैं। बाहर के जगत् में उन्हें कोई अर्थ मालूम नहीं होता है। बुद्ध क्षत्रिय घर में पैदा हुए लेकिन क्षत्रिय नहीं रह सके। बाहर का वह विस्तार, कर्मों का सारा जाल उन्हें बेमानी मालूम पड़ा, इसलिए छोड़कर हट गये।

अगर ब्राह्मण के घर में भी बहिर्मुखी व्यक्ति पैदा हो जाय—जैसे परशुराम आदि तो ब्राह्मण नहीं रह सकता। क्षत्रिय हो जायेगा। **क्षत्रिय अनिवार्यरूपेण बहिर्मुखी होता है**। अगर क्षत्रिय होने में उसे सफल होना है तो यह अर्जुन के लिए बहुत सरल है। कहना चाहिए कि अर्जुन क्षत्रिय होने का आदर्श है।

क्षत्रिय जैसा हो सकता है, वैसा उसका व्यक्तित्व है। कृष्ण ने इसलिए उसे सांख्य की निष्ठा कही सबसे पहले, क्योंकि अर्जुन बातें ब्राह्मणों जैसी कर रहा है।

अर्जुन आदमी क्षत्रिय जैसा है और सवाल ब्राह्मणों जैसे उठा रहा है। युद्ध के मैदान पर खड़ा है, लेकिन प्रश्न जो पूछ रहा है वह गुरुकुलों में पूछने जैसे हैं। जो प्रश्न वह पूछ रहा है वे किसी बुद्ध से किसी बोधि-वृक्ष के नीचे बैठकर, वन के एकान्त में पूछने जैसे हैं। लेकिन वह प्रश्न पूछ रहा है युद्ध के समारम्भ में, शुरुआत में, जब कि शंखनाद हो चुका और योद्धा आमने-सामने आ गये और अब जब कि घड़ी भर की देर नहीं कि लहू की धारें बह जायेंगी—ऐसे क्षण में वह जिज्ञासाएँ जो कर रहा है वह ब्राह्मण जैसी हैं। कृष्ण ने बड़ी ही अन्तर्दृष्टि का प्रमाण दिया है, क्योंकि अर्जुन बात ब्राह्मणों जैसी कर रहा है। इसलिए ब्राह्मणों की जो चरम उत्कर्ष की संभावना है 'सांख्य'—कृष्ण ने सबसे पहले वही कह दी। उन्होंने कहा कि अगर तू सच में ही ब्राह्मण की स्थिति में आ गया है तो सांख्य की बात पर्याप्त होगी, ज्ञान पर्याप्त होगा। लेकिन, उससे कुछ हल नहीं हुआ। अर्जुन वहीं का वहीं रहा। जैसे घड़े पर पानी गिरा और बह गया। **दूसरा अध्याय व्यर्थ गया है अर्जुन पर**। अर्जुन पर अगर सार्थक हो जाता तो गीता वहीं बन्द हो जाती, तब आगे गीता के चलने का उपाय न रहता।

अब कृष्ण को एक-एक कदम नीचे उतरना पड़ेगा। वह एक-एक कदम नीचे उतरकर अर्जुन से बात करेंगे। शायद एक सीढ़ी नीचे की बात अर्जुन की समझ में आ जाये। इतना तय हो गया कि ब्राह्मण वह नहीं है। वह उसका स्व-धर्म नहीं, वह उसका व्यक्तित्व नहीं। सांख्य बेकार गया। सांख्य बेकार है इसलिए नहीं। अर्जुन पर बेकार गया, क्योंकि अर्जुन के लिए बेकार है। लेकिन, सांख्य कृष्ण के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इसलिए सबसे पहले सांख्य की बात कर ली।

प्रश्न : आचार्य श्री, एक छोटा-सा प्रश्न है—आपने अभी-अभी कहा कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ अंतर्मुखी है और कुछ बहिर्मुखी। इसका अर्थ क्या यह है कि व्यक्ति को सांख्य और योग दोनों की साधना साथ-साथ करनी पड़ेगी ?

आचार्य श्री : नहीं दोनों की साधना साथ-साथ नहीं की जा सकती। दो रास्तों पर कभी भी एक साथ नहीं चला जा सकता है और **जो दो रास्तों पर एक साथ चलेगा वह कहीं भी नहीं पहुँचेगा। वह चल ही नहीं सकेगा**। दो नावों पर एक साथ सवार नहीं हुआ जा सकता है और जो दो नावों पर एक साथ सवार होगा वह सिर्फ डूबेगा। वह कहीं पहुँच नहीं सकता है। जब मैंने कहा कि व्यक्ति में मात्राएँ हैं तो जिस व्यक्ति में जिस तत्त्व की ज्यादा मात्रा है उसे

उसी मार्ग पर जाना होगा। **मार्ग तो एक ही चुनना होगा। अगर वह बहिर्मुखी है अधिक मात्रा में तो योग मार्ग है, अगर अंतर्मुखी है अधिक मात्रा में तो सांख्य मार्ग है।** मार्ग तो चुनना ही होगा। दोनों पर नहीं चला जा सकता।

इसलिए एक बात और आपसे कह दूँ। जो व्यक्ति जिस मार्ग से पहुँचेगा वह बलपूर्वक कहेगा कि मेरा ही मार्ग ठीक है। उसके कहने में कोई गलती नहीं है। वह पहुँचा है उस मार्ग से और वह बलपूर्वक यह भी कहेगा कि दूसरे का मार्ग ठीक नहीं है। जानते हुए भी कि दूसरे का मार्ग भी ठीक है। पर ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि अगर वह ऐसा कहे कि वह मार्ग भी ठीक है, यह मार्ग भी ठीक है तो जिन लोगों को मार्ग पर चलना है उनके लिए चुनाव कठिन होता चला जाता है। इसलिए दुनिया में जब से इक्लेक्टिक रिलीजन (उदार-मतवादी धर्म) पैदा हो गया, जैसे थियोसॉफी जिसने कहा कि सब मार्ग ठीक है तो उस मार्ग पर कोई आदमी कभी नहीं चला। लोगों ने किताब पढ़ लिये कि सब मार्ग ठीक हैं तो चुनाव मुश्किल हो गया। जब से दुनिया में कुछ ऐसे लोगों ने बात कहनी शुरू की कि सभी मार्ग ठीक हैं तब से करीब-करीब मतलब यह हुआ कि सभी कुछ बेकार हैं, कुछ भी ठीक नहीं। यह अन्ततः मतलब हुआ।

जब हम यह कहने लगते हैं कि सभी ठीक है तो करीब-करीब बात ऐसी हो जाती है कि गलत कुछ भी नहीं है। और अंततः मनुष्य के मन पर जो परिणाम होता है वह यह होता है कि सभी गलत है। इसलिए सांख्य अनिवार्य रूप से कहेगा कि गलत है कर्म की बात, ज्ञान ही सही है। और मैं मानता हूँ कि **इसमें करुणा है, इसमें डागमेटिज्म (मताग्रह) नहीं है।** इस बात को ठीक से समझ लेना है। इसमें कोई रूढ़िवाद नहीं है। इसमें सिर्फ करुणा है क्योंकि वह जो विराट् मनुष्य जाति है उसे चुनाव करना है एक-एक आदमी को डिसीशन (निर्णय) लेना है—कहाँ चलें? अगर सभी ठीक है तो आदमी अनिश्चयात्मक (इनडिसिसिव) हो जाता है। वह अनिश्चय में पड़ जाता है, वह सिर्फ खड़ा रह जाता है।

अगर चौरस्ते पर आप किसी से पूछें कि कौन-सा रास्ता नदी पहुँचता है और कोई कहे कि सभी रास्ते नदी पहुँचते हैं। तो बहुत संभावना यही है कि आप चौरस्ते पर खड़े रह जायें और दूसरे आदमी की प्रतीक्षा करें जो एक रास्ता बता सकता हो।

सांख्य कहेगा ठीक है, ज्ञान। योग कहेगा ठीक है--साधना, कर्म, श्रम। उनके कहने में करुणा है--व्यक्तियों के सामने जिनसे यह बात कही जा रही है, स्पष्ट चुनाव चाहिए। लेकिन एक बात समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को

अपने को तौलकर मार्ग चुनना है। इसलिए गीता एक अर्थ में अद्भुत ग्रंथ है। न कुरान इस अर्थ में अद्भुत है, न बाइबिल इस अर्थ में अद्भुत है, न महावीर के वचन, न बुद्ध के वचन इस अर्थ में अद्भुत हैं। किसी और अर्थ में वे सारी चीजें अद्भुत हैं। **लेकिन गीता एक विशेष अर्थ में अद्भुत है कि उसमें सब तरह के व्यक्तियों के मार्गों की चर्चा हो गयी है।** उसमें सब तरह की संभावनाओं पर चर्चा हो गयी है क्योंकि अर्जुन पर कृष्ण ने सभी तरह की संभावनाओं की बात की। एक-एक संभावना बेकार होती चली गयी और वे दूसरी संभावना की बात करते चले गये। **ऐसे अर्जुन के बहाने कृष्ण ने प्रत्येक मनुष्य के लिए संभावनाओं का द्वार खोल दिया है।** लेकिन, उससे उलझन भी पैदा हुई।

उलझन यह पैदा हुई कि कृष्ण जब सांख्य की बात कहते हैं तो वे कहते हैं कि सांख्य परम है। तब वे ऐसे बोलते हैं जैसे वे स्वयं सांख्य हैं। बोलना ही पड़ेगा। जब वे योग की बात कहते हैं तो लगता है योग परम है। जब वे भक्ति की बात करते हैं तो लगता है भक्ति परम है। इससे एक उपद्रव जरूर हुआ, वह उपद्रव यह हुआ कि भक्ति ने पूरी गीता में से भक्ति निकाल डाली। भक्तों **ने पूरी गीता पर भक्ति को थोप देने की कोशिश** की। रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क सबकी टीकाएँ, पूरी गीता पर भक्ति को थोप देती हैं। शंकर जैसे ज्ञानियों ने ज्ञान निकाल लिया और **पूरी गीता पर ज्ञान थोपने की कोशिश की।** तिलक जैसे कर्मियों ने कर्म निकाल लिया और पूरी गीता पर **कर्म को थोपने की कोशिश** की। लेकिन कोई भी इस सत्य को ठीक से नहीं समझ पाया कि **गीता समस्त मार्गों का विचार है** और जब एक मार्ग की कृष्ण बात करते हैं तो उस मार्ग में वे इतने लीन और एक हो जाते हैं कि वे कहते हैं यही परम है। जब अर्जुन पर वह व्यर्थ हो जाता है तब वे दूसरे मार्ग की बात करते हैं। तब वे अर्जुन से फिर कहते हैं यही परम है (दिस इज द अल्टीमेट) यही सत्य है, पूर्ण है। क्योंकि वे फिर चाहते हैं कि अर्जुन इसे सुन ले और अर्जुन वैसे ही अनिश्चयमना है।

अगर कृष्ण भी अपवाद में बोलें कि शायद यह ठीक है, शायद वह ठीक है तो अर्जुन का चुनाव असंभव है। अगर कृष्ण कहें कि वह ठीक है, यह भी ठीक है। किसी के लिए वह ठीक है, किसीके लिए यह ठीक है! कभी वह ठीक है, कभी यह ठीक है तो अर्जुन जो 'इन-डिसीजन' में पड़ा है, जो अनिर्णय में, चिंता में है, जिसे मार्ग नहीं सूझता, उसके लिए कृष्ण मार्ग नहीं बना सके, मार्ग नहीं दे सके। इसलिए कृष्ण जब कहते हैं कि यही परम है तो वे अर्जुन की आँख में झाँक रहे हैं और देख रहे हैं कि शायद उसे यह ठीक पड़ जाय। उसके लिए यही परम हो जाय।

इसलिए गीता विशिष्ट है, इस अर्थ में कि अब तक सत्य तक पहुँचने के जितने द्वार हैं कृष्ण ने उन सबकी बात की। लेकिन, वह सिन्थेटिक (समन्वयात्मक) नहीं है, वह बात गांधीजी जैसी नहीं है। वह बात ऐसी नहीं है कि वह भी ठीक है, यह भी ठीक है। कृष्ण कहते हैं कि जो ठीक है वह उसके लिए परम रूप से ठीक है, बाकी उसके लिए सभी गलत है। दूसरा किसी के लिए ठीक है तो वह उसके लिए परिपूर्ण रूप से ठीक है। एब्सोल्यूट—निरपेक्ष ठीक है और बाकी उसके लिए सब गलत है। गीता बड़ी हिम्मतवर किताब है और इतनी हिम्मत के लोग कम होते हैं जो अपनी ही बात को जिसे उन्होंने दो क्षण पहले कहा है, दो क्षण बाद कह सकें कि वह बिलकुल गलत है। और अभी जो कह रहे हैं वही एकमात्र सत्य है। और दो क्षण बाद इसको भी कह सकें कि बिलकुल गलत है और अब जो मैं कह रहा हूँ वही बिलकुल ठीक है। **इतना असंगत होने का साहस केवल वही लोग कर सकते हैं जो भीतर रूप से परम संगति को उपलब्ध हो गये हैं** और अन्य लोग नहीं कर सकते।

बार-बार ख्याल में आयेगा आपको कि कृष्ण जब भी जो भी कुछ कहते हैं—एब्सोल्यूट, निरपेक्ष कहते हैं, जब जो कुछ कहते हैं उसे पूर्णता से कहते हैं। ख्याल यही है कि वह इतनी पूर्णता में ही अर्जुन के लिए चुनाव बन सकता है अन्यथा चुनाव नहीं बन सकता है। इसलिए दुनिया में जब से बहुत कम हिम्मत के दयालु लोग पैदा हो गये हैं जो कहते हैं यह भी ठीक है, वह भी ठीक है, सब ठीक है और सबकी खिचड़ी बनाने में लगे हुए हैं। तब से उन्होंने न हिन्दू को ठीक से हिन्दू रहने दिया, न मुसलमान को ठीक से मुसलमान रहने दिया, न अल्लाह के पुकारने में ताकत रह गयी, न राम को बुलाने में हिम्मत रह गयी। 'अल्ला ईश्वर तेरे नाम' बिलकुल इम्पोटेण्ट (नपुंसक) हो जाता है, बिलकुल मर जाता है। उसमें कोई ताकत नहीं रह जाती।

तो एक व्यक्ति के लिए उसका निर्णय सदा परम होता है। वह निर्णय उसी तरह का है कि मैं किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाऊँ, तो उस प्रेम के क्षण में मैं उससे कहता हूँ कि तुझसे ज्यादा सुन्दर और कोई भी नहीं है और ऐसा नहीं कि मैं उसे धोखा दे रहा हूँ। ऐसा मुझे उस क्षण में दिखायी ही पड़ रहा है। ऐसा भी नहीं है कि कल मैं इसे बदल जाऊँगा तो आप कहें कि कल आप बदल गये ? तो उस दिन आपने धोखा तो नहीं दिया ? उस क्षण में मैंने ऐसा ही जाना और वह मेरे पूरे प्राणों से निकला था कि तुमसे ज्यादा सुन्दर और कोई नहीं। उस क्षण के लिए मेरे पूरे प्राणों की पुकार वही थी।

कृष्ण जैसे लोग क्षणजीवी होते हैं (लिविंग मोमेंट टू मोमेंट)। जब वह सांख्य की बात कहते हैं तब वे सांख्य के साथ इस प्रेम में पड़ जाते हैं कि वह

कहते हैं सांख्य परम है। अर्जुन ! सांख्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। और जब वह भक्ति के प्रेम में पड़ जाते हैं क्षण भर के बाद तो वह कहते हैं हे अर्जुन ! भक्ति ही मार्ग है, उसके अतिरिक्त कोई भी मार्ग नहीं है। इसे ध्यान में रखना पड़ेगा। इसमें कोई तुलनात्मक, कोई कम्पेरेटिव बात नहीं है।

जब कृष्ण कहते हैं सांख्य परम है या जब मैं कहता हूँ किसी स्त्री से कि तुझसे सुन्दर और कोई भी नहीं है तब मैं दुनिया की स्त्रियों से उसकी तुलना नहीं कर रहा हूँ। असल में मेरे लिए वह अतुलनीय हो गयी है। इसलिए दुनिया में कोई स्त्री उसके मुकाबले नहीं है। कोई तुलना (कम्पेयर) नहीं कर रहा हूँ—सारी तस्वीरें रखकर जाँच नहीं कर रहा हूँ कि ऐसी सुन्दर कोई स्त्री है या नहीं। न मैंने सारी दुनिया की स्त्रियाँ देखी हैं, न जानने का सवाल है। न, इस क्षण में मेरे पूरे प्राणों की आवाज यह है कि तुझसे सुन्दर और कोई भी नहीं है। वह सिर्फ मैं यह कह रहा हूँ कि मैं तुझे प्रेम कर रहा हूँ और जहाँ प्रेम है वहाँ परम, एब्सोल्यूट प्रकट होता है। और कृष्ण जब सांख्य की बात करते हैं तो सांख्य के साथ उसी तरह प्रेम में हैं जैसे कोई प्रेमी। और अगर इतने प्रेम में न होते तो गीता में इतने प्राण नहीं हो सकते थे, तब किताब **'भगवत गीता'** नहीं कही जा सकती थी। तब वह भगवान् का वचन नहीं कही जा सकती थी। भगवान् का वचन वह इसीलिए कही जा सकी, वह इसीलिए **गीत गोविन्द** बन गयी—सिर्फ इसीलिए कि प्रतिपल कृष्ण ने जो भी कहा उसके साथ वे इतने एक हो गये कि रत्ती भर का फासला न रहा।

सांख्य की बात करते वक्त वे सांख्य हो जाते, भक्ति की बात करते वक्त वे भक्त हो जाते, योग की बात करते वक्त वे महायोगी हो जाते। अतीत गिर जाता, भविष्य शेष नहीं रहता। जो सामने होता है उसके साथ वे पूरे एक हो जाते हैं। इसे ख्याल में रखेंगे तो उनके वचन तुलनात्मक नहीं। एक आध्याय दूसरे अध्याय से तुलना नहीं की गयी है। एक श्रृङ्खला दूसरी श्रृंखला से, **एक निष्ठा दूसरी निष्ठा से तौली नहीं गयी है। प्रत्येक निष्ठा अपने में परम है।** निश्चित ही जो भी उस निष्ठा से पहुँचता है उसके लिए उससे श्रेष्ठ कोई निष्ठा नहीं रह जाती।

प्रश्न : आचार्य श्री, बहिर्मुखी व्यक्ति साधना करते-करते अंतर्मुख होता जाये तो क्या अपना रास्ता जीवन में आगे जाकर उसे बदलना चाहिए ?

आचार्य श्री : नहीं। ऐसा होता नहीं। **बहिर्मुखी व्यक्ति ठीक बढ़ते-बढ़ते सारे ब्रह्म से एक हो जाता है।** बहिर्मुखी व्यक्ति बढ़ते-बढ़ते उस जगह पहुँच जाता है **जहाँ बाहर कुछ शेष नहीं रहता।** सारे बहिर् से उसका एकात्म हो जाता है। जिस दिन सारे बहिर् से उसका एकात्म हो जाता है उस दिन भीतर

भी कुछ नहीं रह जाता, बाहर भी कुछ नहीं रह जाता है। लेकिन, वह बाहर के साथ एक होकर स्वयं को, और सत्य को पाता है। तब वह कहता है 'ब्रह्म मैं हूँ'। वह सारे ब्रह्म से एक हो जाता है। जब वह कहता है, मैं पूर्ण हूँ, तब वह पूर्ण से एक हो जाता है। तब चाँद तारे उसे अपने भीतर घूमते हुए मालूम पड़ते हैं।

अंतर्मुखी व्यक्ति भीतर डूबते-डूबते इतना भीतर डूब जाता है कि भीतर भी कुछ नहीं बचता, शून्य हो जाता है। तब वह कह पाता है, मैं हूँ ही नहीं। जैसे दिये की लौ बुझ गयी और खो गयी, ऐसा ही सब खो गया। **बहिर्मुखी व्यक्ति अंततः पूर्ण को पकड़ पाता है। अंतर्मुखी व्यक्ति अंततः शून्य को पकड़ पाता है। और शून्य और पूर्ण दोनों एक ही अर्थ रखते हैं।** लेकिन बहिर्मुखी व्यक्ति बाहर की यात्रा कर-करके पहुँचता है, अंतर्मुखी व्यक्ति भीतर की यात्रा कर-करके पहुँचता है। बहिर्मुखी व्यक्ति अन्ततः अपने अंतस् को बिलकुल काट-कर फेंक देता है। भीतर कुछ बचता ही नहीं, बाहर ही बचता है। अंतर्मुखी व्यक्ति बाहर को भूलते-भूलते इतना भूल जाता है कि बाहर कुछ बचता ही नहीं है।

और बड़े मजे की बात है कि **बाहर और भीतर** दोनों एक साथ बचते हैं। एक नहीं बच सकता दो में से। **इसलिए जब एक खोता है तो दूसरा तत्काल खो जाता है।** अगर आप बाहर ही बाहर बचे और भीतर कुछ न बचे तो बाहर भी खो जायेगा, क्योंकि बाहर फिर किसका बाहर होगा! उसके लिए भीतर चाहिए, भीतर के कारण ही वह बाहर है। अगर भीतर ही बचे और बाहर बिल्कुल न बचे तो उसे भीतर कैसे कहियेगा? वह किसी बाहर की तुलना, अपेक्षा में भीतर है। असल में जैसे आपके कोट का खीसा है। उसका एक हिस्सा भीतर है जिसमें आप हाथ डालते हैं और एक हिस्सा उसका बाहर है जो लटका हुआ है। क्या आप सोच सकते हैं कि कभी ऐसा हो जाय कि खीसे का भीतर ही भीतर बचे और बाहर न बचे।

आपका घर है। कभी आप सोच सकते हैं कि घर का भीतर ही भीतर बचे और घर का बाहर न बचे। अगर भीतर ही भीतर बचे और बाहर न बचे तो भीतर भी न बचेगा। अगर बाहर ही बाहर बचे और भीतर न बचे तो बाहर भी न बचेगा। बाहर और भीतर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

इसलिए दो रास्ते हैं। या तो बाहर को गिरा दो या भीतर को गिरा दो, दोनों गिर जायँगे और तब जो शेष रह जायगा वह बाहर और भीतर दोनोंमें था, जो बाहर और भीतर दोनों में था, जो बाहर और भीतर दोनों के बाहर भी था, वह जो बचेगा उसे हम ब्रह्म कहेंगे। अगर हमने बाहर से यात्रा की है।

और उसे हम शून्य कहेंगे, निर्वाण कहेंगे; अगर हमने भीतर से यात्रा की है। जितने लोगों ने परमात्मा को पूर्ण की तरह सोचा है वे बहिर् यात्रा कर रहे हैं। जिन्होंने परमात्मा को शून्य की तरह सोचा है वे अंतर यात्रा कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि योग की साधना करते-करते, बहिर् साधना करते-करते एक दिन फिर सांख्य की साधना करनी पड़ेगी—कोई जरूरत नहीं! योग भी पहुँचा देता है।

इसे एक और तरह से समझ लें तो ख्याल में आ जाय। एक आदमी १० की संख्या पर खड़ा है और अगर वह १० की संख्या से ११ और १२ ऐसा बढ़ता चला जाय तो भी असीम पर पहुँच जायेगा। एक जगह आयेगी जहाँ सब संख्याएँ खो जायेंगी। अगर वह १० से नीचे उतरे ९, ८ पीछे लौटता है तो एक के बाद शून्य आ जायेगा जहाँ सब संख्याएँ खो ही जायेंगी। **आप किसी भी तरफ से यात्रा करें संख्या खोयेगी।** और जब संख्या खो जायेगी तो आपने कहाँ से यात्रा की थी इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। जो बचेगा संख्या के बाहर, वह एक ही होने वाला है। इसे पॉजिटिव और निगेटिव (विधायक और निषेधात्मक) की तरह भी ख्याल में ले लेना चाहिए।

कुछ लोग हैं **जिनको विधायक शब्द प्रीतिकर लगते हैं, वे** वही लोग हैं जो **बहिर्मुखी हैं।** कुछ लोग हैं **जिन्हें** नकारात्मक, **निषेधात्मक शब्द प्रीतिकर लगते हैं, वे** वही लोग हैं जो **अंतर्मुखी** हैं। जैसे बुद्ध। बुद्ध को नकारात्मक शब्द बड़े प्रीतिकर लगते हैं। अगर उन्हें परमात्मा भी प्रकट होगा तो नहीं के रूप में प्रकट होगा, नथिंगनेस के रूप में प्रकट होगा, शून्य के रूप में प्रकट होगा। इस-लिए बुद्ध ने अपने मोक्ष के लिए जो नाम चुना वह है निर्वाण। और निर्वाण का मतलब होता है 'दिये का बुझ जाना'। जैसे दिया बुझ जाता है बस ऐसे ही एक दिन व्यक्ति बुझ जाता है। तब जो रह गया है, वह निर्वाण है।

कोई बुद्ध से पूछता है कि आपका निर्वाण के बाद क्या होगा? तो बुद्ध कहते हैं कि दिया बुझ जाता है तो फिर क्या होता है? शून्य के साथ एक हो जाता है। तो बुद्ध का जोर निगेटिव, है नकारात्मक है। वह अंतर्मुखी का जोर है। **दुनिया में जब भी अंतर्मुखी बोलेगा तो नकार की भाषा बोलेगा।** निगेटिव की भाषा बोलेगा—'नेति, नेति'। वह कहेगा—यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। उस जगह पहुँचना है जहाँ कुछ भी न बचे। **लेकिन जहाँ कुछ भी न बचे वहीं सब कुछ बचता है।** एक पॉजिटिव (विधायक) भाषा है—यह भी, यह भी, यह भी। अगर सब जुड़ जाय तो जो बचता है वह भी सब-कुछ है।

ये दो ही ढंग हैं। इनमें से किसी भी तरफ की यात्रा आप चुन सकते हैं।

और ये दोनों ढंग बड़े विरोधी मालूम पड़ते हैं। जहाँ तक ढंग का सम्बन्ध है, विरोध है। लेकिन जहाँ तक उपलब्धि का सम्बन्ध है कोई विरोध नहीं। **वहीं पहुँच जाते हैं शून्य से भी। वहीं पहुँच जाते हैं पूर्ण से भी।** वहीं पहुँच जाते हैं नेति-नेति कह कर भी। सबमें परमात्मा को जान कर देखते हैं। **मान कर** सोचते हैं, अनुभव करते हैं। पहुँचना है वहाँ जहाँ द्वैत न बचे।

तो **द्वैत दो तरह से शून्य हो सकता है,** मिट सकता है। **या तो सब स्वीकृत हो जाये या सब अस्वीकृत हो जाये।** या तो सब बन्धन गिर जाय और या सब बन्धन आत्मा ही हो जाय, तब भी हो सकता है। **या तो बन्धन** बचे ही नहीं और या फिर बन्धन ही सब कुछ, आत्मा बन जाये। तब भी बन्धन नहीं बचता।

न तो योगी को सांख्य में जाना पड़ता है, न सांख्य को योग में जाना पड़ता है। लेकिन दोनों जहाँ पहुँच जाते हैं, वह एक ही जगह है। **कहीं कोई** बदलाहट नहीं करनी पड़ती। वे दोनों ही वहीं ले जाते हैं।

यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर देखने की बात है **कि उसकी अपनी** रुचि, उसका अपना स्व-धर्म, उसका अपना लगाव विधायक के साथ है **या कि** नकारात्मक के साथ—पूर्ण के साथ है कि शून्य के साथ। इसे ऐसा भी **समझ** लें—अगर कोई व्यक्ति भाव से भरा हुआ है, इमोशनल है, **भावुक है, तो उसे** पूर्ण की भाषा स्वीकार होगी। और अगर कोई बहुत बौद्धिक, **बहुत इन्टेलेक्चुअल** व्यक्ति है तो उसे नकार की, इनकार की भाषा स्वीकार होगी। **तर्क इनकार** करता है, तर्क इलीमिनेट करता है, काटता है। यह भी बेकार, **यह भी बेकार,** यह भी बेकार—फेंकता चला जाता है, उस समय तक जब कि **फेंकने को** कुछ बचता ही नहीं। तब जब कुछ फेंकने को नहीं बचता तो तर्क भी गिर जाता है।

कभी आपने देखी है एक दिये की बाती। बाती तेल को जलाती है। और जब सारे तेल को जला डालती है फिर खुद जल जाती है। कभी आपने यह देखा है कि बाती को आग की लपट जलाती है फिर जब पूरी बाती जल जाती है तो लपट भी बुझ जाती है। तर्क इनकार करता चला जाता है—यह भी नहीं—यह भी नहीं—यह भी नहीं। आखिर में **जब कुछ भी इनकार करने को नहीं बचता तो इनकार करने वाला तर्क भी मर जाता है।** श्रद्धा स्वीकार करती चली जाती है—यह भी—यह भी—यह भी। **और जब सब स्वीकार हो जाता है तो श्रद्धा की भी कोई जरूरत नहीं रह जाती।** वह भी गिर जाती है। और जहाँ तर्क और श्रद्धा दोनों ही गिर जाते हैं वहाँ एक ही मुकाम, एक ही मंजिल, एक ही मंदिर आ जाता है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अर्थ : "अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण! आप मिले हुए वचन से मेरी बुद्धि को मोहित-सी करते हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चय करके कहिये कि जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ।"

आचार्यश्री : पूछता है अर्जुन : 'एक बात निश्चित करके कहिये ताकि मैं इस उलझाव से मुक्त हो जाऊँ।' लेकिन क्या दूसरे की कही बात निश्चय बन सकती है? और दूसरा कितने ही निश्चय से कहे तो भी भीतर का अनिश्चय क्या गिर सकता है? कृष्ण ने कम निश्चय से नहीं कही सांख्य की बात। कृष्ण ने पूरे ही निश्चय से कही है कि यही है मार्ग, लेकिन अर्जुन फिर कहता है, निश्चय से कहिये। इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ हुआ कि **कृष्ण ने कितने ही निश्चय से कही हो,** अर्जुन के व्यक्तित्व से उसका कोई तालमेल नहीं हो पाया। **अर्जुन के लिए वह कहीं भी निश्चय की ध्वनि भी नहीं पैदा कर पायी।** अर्जुन उसके बीच समानान्तर (पैरेलल) स्थिति में रहे, वैसे ही जैसे रेल की दो पटरियाँ समानन्तर होती हैं—चलती हैं जिंदगी भर साथ, मिलती हैं कहीं भी नहीं। साथ ही साथ होती हैं सदा और बहुत दूर फासले पर मिलती हुई मालूम भी होती हैं, लेकिन जब वहाँ पहुँचो तो पाया जाता है उतनी ही अलग हैं, मिलती कहीं भी नहीं—पैरेलल लाइन की तरह।

अर्जुन और कृष्ण के बीच यह लंबा संवाद चलने वाला है। अर्जुन कह रहा है निश्चित कहो कि जिससे मेरा भ्रम टूटे, मेरा उलझाव मिटे। लेकिन जो चित्त भीतर उलझा हुआ है वह निश्चित से निश्चित बात में से उलझाव निकाल लेगा। **कोई बात निश्चित नहीं हो सकती है, जब तक चित्त उलझा हुआ है।** क्योंकि वह हर निश्चय में से अनिश्चय निकाल लेगा। कितनी भी निश्चित बात कही जाय, वह उसमें से दस नये सवाल उठा देगा। वे सवाल उसके भीतर से आते हैं, उसके अनिश्चय से आते हैं और अगर निश्चित चित्त हो तो कितनी भी अनिश्चित बात कही जाय वह उसमें से निश्चय निकाल लेगा। **हम वही निकाल लेते हैं जो हमारे भीतर की अवस्था होती है।** हममें कुछ डाला नहीं जाता, हम वही अपने में आमंत्रित कर लेते हैं, जो हमारे भीतर तालमेल खाता है।

सॉक्रेटीज मर रहा था। उसके एक मित्र ने सॉक्रेटीज से पूछा कि आप बड़े निश्चित मालूम पड़ रहे हैं और मृत्यु सामने खड़ी है, जहर पीसा जा रहा है। आपके निश्चय को देख कर मन डरता है, मन काँपता है। यह कैसा निश्चय है? मृत्यु सामने है आप इतने निश्चित-मना क्यों हैं? सॉक्रेटीज ने कहा, मैं

सोचता हूँ कि नास्तिक कहते हैं कि आत्मा बचेगी नहीं, सब मर जायेगा। अगर वे ठीक कहते हैं तो चिन्ता का कोई भी कारण नहीं, क्योंकि मैं मर ही जाऊँगा, चिन्ता करने वाला भी कोई बचने वाला नहीं। आस्तिक कहते हैं कि नहीं मरोगे—शरीर ही मरेगा। आत्मा बचेगी ही। आत्मा को मारा ही नहीं जा सकता है। अगर वे सही हैं तो मेरे चिन्तित होने का कोई भी कारण नहीं; क्योंकि जब बचूँगा ही तो चिन्ता क्या करनी। सॉक्रेटीज कहता है, मुझे मालूम नहीं कि नास्तिक ठीक कहते हैं या आस्तिक ठीक कहते हैं। लेकिन अगर नास्तिक ठीक कहते हैं तो भी मैं निश्चिन्त हूँ, क्योंकि मर ही जाऊँगा तो चिन्ता किसे है। और अगर आस्तिक ठीक कहते हैं तो भी मैं निश्चिन्त हूँ, क्योंकि जब बचूँगा ही तो चिन्ता कैसी? अब इसको समझें कि सॉक्रेटीज इतनी अनिश्चित स्थिति में भी निश्चय निकाल लेता है।

और कृष्ण निश्चित बात कहते हैं। उनका स्टेटमेन्ट टोटल है, उनकी घोषणा समग्र है कि सांख्य परम निष्ठा है—ज्ञान पर्याप्त है—स्वयं को जान लेना काफी है, कुछ और करने का कोई अर्थ नहीं है। अर्जुन कहता है कुछ ऐसी निश्चित बात कहो कि मेरा अनिश्चित मन अनिश्चित न रह जाय, मेरा विषयों में भागता हुआ यह मन ठहर जाय। अर्जुन यह नहीं समझ पा रहा है कि **बातें निश्चित नहीं होतीं, चित्त निश्चित होते हैं। सिद्धान्त निश्चित नहीं होते, चेतना निश्चित होती है।** सरटेनटीज़ (निर्णायक तत्त्व) जो हैं वे सिद्धान्तों से नहीं आते, चित्त की स्थिति से आते हैं।

कभी आपने 'अर्जुन' शब्द का अर्थ सोचा है? वह बड़ा अर्थपूर्ण है। शब्द है एक—ऋजु। ऋजु का अर्थ होता है सीधा-सादा (Strait) और अऋजु का अर्थ होता है टेढ़ा-मेढ़ा—डावाँडोल। अर्जुन शब्द का अर्थ ही होता है डोलता हुआ। हम सबके भीतर अर्जुन है। वह जो हमारा चित्त है वह अर्जुन की हालत में होता है। वह डोलता रहता है। वह कभी कोई निश्चय नहीं कर पाता। वह काम भी कर लेता है अनिश्चय में। काम भी हो जाता है तो भी निश्चय नहीं कर पाता। काम भी कर चुका होता है, फिर भी निश्चय नहीं कर पाता कि करना था कि नहीं करना था। पूरी जिन्दगी अनिश्चय है। वह जो अर्जुन है वह हमारे मन का प्रतीक है। उसे इस बात की खबर है कि मन का यह ढंग है और मन से आप कितनी ही निश्चित बात करें, वह उसमें से नये अनिश्चय निकाल हाजिर हो जाता है। वह कहता है फिर इसका क्या होगा, फिर उसका क्या होगा?

एक मित्र कल मुझसे मिलने आये और कहने लगे बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि आत्मा नहीं है—तो मेरा क्या होगा? मैंने कहा, बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं तो

उनको चिन्ता करने दो, तुम क्यों चिन्ता करते हो? फिर मैंने कहा, बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि आत्मा नहीं है लेकिन खुद वह तो चिन्तित नहीं है। तुम क्यों चिन्तित होते हो? मित्र ने कहा कि बुद्ध, महावीर और कृष्ण आदि कहते हैं कि आत्मा अमर है इससे बड़ी चिन्ता होती है। मैंने कहा कि बर्ट्रेंड रसेल कहते कि आत्मा अमर नहीं है तो चिन्ता होती है कि मैं समाप्त हो जाऊँगा। बुद्ध महावीर कहते हैं कि आत्मा अमर है तो क्यों चिन्ता होती है? वे कहने लगे, चिन्ता यह होती है कि क्या मैं कभी भी समाप्त नहीं होऊँगा। ऐसा ही बना रहूँगा! तब भी मन घबड़ाता है। अब बड़ी मुश्किल है, एक साक्रेटीज है जो नास्तिकता से भी निश्चय निकाल लेते हैं, आस्तिकता से भी निश्चय निकाल लेते हैं और एक ये मित्र हैं, ये बिलकुल एन्टीसॉक्रेटीज हैं। ये बुद्ध और महावीर से भी चिन्ता निकालते हैं, बर्ट्रेंड रसेल से भी चिन्ता निकालते हैं। ये दोनों विरोधियों से भी चिन्ता निकाल लेते हैं, तो इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यही है कि हम वही निकाल लेते हैं जो हम निकालना चाहते हैं। लेकिन फिर भी हम सोचते हैं कि बर्ट्रेंड रसेल की वजह से यह चिन्ता पैदा हो गयी है, महावीर की वजह से चिंता पैदा हो रही है। सच बात यह है कि मैं चिंतित हूँ, अनिश्चित हूँ। मैं महावीर से भी अनिश्चय निकालता हूँ, रसेल से भी अनिश्चय निकाल लेता हूँ।

अर्जुन कहता है कि कुछ ऐसा कहें मुझे कि मैं सारे अनिश्चय के पार होकर थिर हो जाऊँ। अर्जुन की माँग तो ठीक है, लेकिन साथ-साथ उसे निश्चय नहीं है कि करना क्या है? हम सबकी भी यही हालत है। मन्दिर में जाते हैं, मस्जिद में जाते हैं, गुरु के पास, साधु के पास—निश्चय खोजने कि कहीं निश्चित हो जाय बात। कहीं निश्चित न होगी। **अनिश्चित मन लिये हुए इस जगत् में कुछ भी निश्चित नहीं हो सकता।** अर्जुन को भीतर लिये हुए जगत् में कुछ भी निश्चित नहीं हो सकता। और ऋजु मन निश्चित हो तो इस जगत् में कुछ भी अनिश्चित नहीं, सब निश्चित है।

चित्त है आधार, शब्द और सिद्धान्त और शास्त्र नहीं—दूसरे के वक्तव्य नहीं। **अब कृष्ण से ज्यादा निश्चित आदमी अर्जुन को कहाँ मिलेगा?** मुश्किल है जन्मों-जन्मों भी अर्जुन खोजे तो कृष्ण जैसा आदमी खोज पाना बहुत मुश्किल है। उससे भी वह कह रहा है कि आप कुछ निश्चित बात कहें तो शायद मेरा मन निश्चित हो जाय। और ध्यान रहे कि जो व्यक्ति दूसरों से निर्णय खोजता है वह अक्सर निर्णय नहीं उपलब्ध कर पाता।

एक व्यक्ति मेरे पास आया। उन्होंने कहा कि मैं संन्यास लेना चाहता हूँ। आप सलाह दें कि मैं लूँ या न लूँ। मैंने कहा कि जब तक सलाह मानने की और

माँगने की इच्छा रहे तब तक मत लेना। जिस दिन सारी दुनिया कहे कि मत लो फिर भी हो कि ले लें तभी लेना, अन्यथा लेकर भी पछताओगे। लेकर भी दुःखी और लोगों से पूछने जाओगे कि कोई गलती तो नहीं की। संन्यास छोड़ दूँ कि रखूँ? ध्यान रहे कि जब हम दूसरे से पूछते हैं तो केवल इतनी खबर होती है कि अब हम अपने से पूछने की हालत में बिलकुल न रहे। अब हालत इतनी बुरी है कि अपने से पूछना बेकार ही है। अपने से जो उत्तर आते हैं वे सब कनफ्यूजिंग (उलझन से भरे हुए) हैं। और जो पूछता है वही तो सुनेगा न? वही फिर नये प्रश्न खड़े कर लेगा।

वैसे अर्जुन की बड़ी कृपा है, अन्यथा गीता पैदा नहीं हो सकती थी। यह तो अर्जुन की कृपा है कि वह उठाता जायेगा प्रश्न और कृष्ण से उत्तर संवेदित होते चले जायेंगे। **कृष्ण जैसे लोग कभी कुछ लिखते नहीं।** कृष्ण जैसे लोग सिर्फ रिसपान्स करते हैं, प्रतिसंवेदित होते हैं। लिखते तो केवल वही लोग हैं जो किसी पर कुछ थोपना चाहते हैं। कृष्ण जैसे लोग तो **कोई पूछता है, पुकारता है तो बोल देते हैं।** तथा अर्जुन खुद तो परेशानी में है, लेकिन अर्जुन से आगे आने वाले जो और अर्जुन होंगे उन पर उसकी बड़ी कृपा है। गीता पैदा नहीं हो सकती थी—अर्जुन के बिना अकेले कृष्ण से गीता पैदा नहीं हो सकती थी। अर्जुन पूछता है तो कृष्ण से उत्तर आता है। **कोई नहीं पूछेगा तो कृष्ण शून्य और मौन रह जायँगे।** कुछ भी उत्तर वहाँ से आने को नहीं है। उनसे कुछ लिया जा सकता है उनसे कुछ बुलवाया जा सकता है और अर्जुन ने बुलवाने का काम किया है। उसकी जिज्ञासा, उसके प्रश्न, कृष्ण के भीतर से नये उत्तर का जन्म बनते चले जाते हैं।

कृष्ण उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

अर्थ : "हे निष्पाप अर्जुन! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है, ज्ञानियों की ज्ञान योग से और योगियों की निष्काम कर्म योग से।"

आचार्यश्री : कहते हैं कृष्ण निष्पाप अर्जुन!—संबोधन करते हैं, निष्पाप अर्जुन!—क्यों? इसे थोड़ा समझना जरूरी है। यह एक बहुत मनोवैज्ञानिक संबोधन है। मनोविज्ञान कहता है कि चित्त में जितना ज्यादा पाप और अपराध (गिल्ट) हो, उतना ही इनडिसीशन (अनिश्चय) पैदा होता है, उतना ही चित्त डावाँडोल होता है। पापी का चित्त सर्वाधिक डावाँडोल होता है। अपराधी का चित्त भीतर से भूकम्प से भर जाता है। बड़े मजे की बात है कि कृष्ण से पूछा है अर्जुन ने—कोई निश्चित बात कहें। कृष्ण जो उत्तर देते हैं वह

बहुत और है। वह निश्चित बात का उत्तर नहीं दे रहे हैं। वह पहले अर्जुन को आश्वस्त करते हैं कि वह भीतर से निश्चित हो पाये। वे उससे कहते हैं, निष्पाप अर्जुन!—

यह भी समझ लेने जैसा है कि **पाप कम सताता है, पाप किया है 'मैंने' यह ज्यादा सताता है।** इसलिए जीसस ने रिपेन्टेन्स, प्रायश्चित्त की एक बड़ी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया निकाली और कहा कि जो अपने पाप को स्वीकार कर ले वह पाप और अपराध से मुक्त हो जाता है। सिर्फ स्वीकार कर ले। पाप के साथ एक मजा है कि पाप को हम छिपाना चाहते हैं। अगर इसे और ठीक से समझें तो कहना होगा कि **जिसे हम छिपाना चाहते हैं वह पाप है।** इसीलिए जिसे हम प्रकट कर दें वह पाप नहीं रह जाता। जिसे हम घोषित कर दें वह पाप नहीं रह जाता।

जीसस ने एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ईसाइयत को दी और वह यह कि अपने पाप को स्वीकार कर लो। और तुम पाप से मुक्त हो जाओगे। ऐसी और भी प्रक्रियाएँ सारी पृथ्वी पर पैदा हुईं, जिनमें व्यक्ति को आश्वासन दिलाया गया कि अब तुम निष्पाप हो। और **अगर व्यक्ति को यह भरोसा आ जाय कि वह निष्पाप है तो भविष्य में पाप करने की क्षमता क्षीण होगी।** यह भी बहुत मजे की बात है कि हम वही करते हैं जो हमारी अपनी बाबत इमेज (प्रतिमा) होती है।

अगर एक आदमी को पक्का ही पता है कि वह चोर है तो उसे चोरी से बचाना बहुत मुश्किल है। वह चोरी करेगा ही। वह अपनी प्रतिभा को ही जानता है कि वह चोर की प्रतिमा है और कुछ उससे होगा ही नहीं। इसलिए अगर हम एक आदमी को चारों तरफ से सुझाव देते रहें कि तुम चोर हो तो हम अचोर को भी चोर बना सकते हैं। इससे उलटा भी संभव घटित होता है। अगर हम चोर को भी सुझाव दें चारों तरफ से कि तुम चोर नहीं हो तो हम उसके चोर होने में कठिनाई पैदा करते हैं। अगर १० भले आदमी एक बुरे आदमी को भला मान लें तो उस बुरे आदमी को भले होने की सुविधा और मार्ग मिल जाता है। इसलिए सारी दुनिया में धर्मों ने बहुत-बहुत से रूप विकसित किये थे, पर सब रूप विकृत हो जाते हैं; लेकिन इससे उनका मौलिक सत्य नष्ट नहीं होता।

हम इस देश में कहते थे कि गंगा में स्नान कर आओ, पाप धुल जायेंगे। गंगा में कोई पाप नहीं धुल सकते। गंगा के पानी में पाप धोने की कोई कीमिया, कोई केमिस्ट्री (रसायन) नहीं है। लेकिन **एक मनोवैज्ञानिक (साइकॉलॉजिकल) सत्य है कि अगर कोई आदमी पूरे भरोसे और निष्ठा से गंगा में**

नहाकर अनुभव करे कि वह निष्पाप हुआ तो लौटकर पाप करना मुश्किल हो जायेगा। डिसकन्टीन्युटी (क्रम-भंग) हो जायेगी। वह जो कल तक पापी था वह गंगा में नहाकर बाहर निकला और वह दूसरा आदमी है—उसकी आइडेंटिटी टूटी। संभावना है कि उसको निष्पाप होने का क्षण भर बोध हुआ है। गंगा कुछ भी नहीं करती। लेकिन अगर पूरे मुल्क के कलेक्टिव माइन्ड, सामूहिक अचेतन मन में यह भाव है कि गंगा में नहाने से पाप धुलता है तो गंगा में नहाने वाला निष्पाप होने के भाव को उपलब्ध होता है और निष्पाप होने का भाव निश्चय में ले जाता है, पापी होने का भाव अनिश्चय में ले जाता है। इसलिए अर्जुन तो पूछता है कि कृष्ण कुछ ऐसी बात कहो जो निश्चित हो और जिससे मेरा डावाँडोलपन मिट जाये।

लेकिन कृष्ण कहाँ से शुरू करते हैं, वह देखने लायक है। कृष्ण कहते हैं हे निष्पाप अर्जुन! **कृष्ण जैसे व्यक्ति के मुँह से जब अर्जुन ने सुना होगा कि हे निष्पाप अर्जुन! तो गंगा में नहा गया होगा।** सारी गंगा उसके ऊपर टूट पड़ी होगी, जब उसने कृष्ण की आँखों में झाँका होगा। और कृष्ण जैसे व्यक्ति जब किसी को ऐसी बात कहते हैं तो सिर्फ शब्द से नहीं कहते, ख्याल रखें! उनका सब कुछ कहता है। **उनका रोआँ-रोआँ, उनकी आँख, उनकी साँस, उनका होना उनका सब कुछ कहता है कि हे निष्पाप अर्जुन!** जब कृष्ण की उस गंगा में अर्जुन को निष्पाप होने का क्षण भर को बोध हुआ होगा जो निश्चय कृष्ण के अन्य कोई वचन नहीं दे सकते—वह अर्जुन को निष्पाप कहे जाने से मिला होगा। इसलिए कृष्ण पहले उसे मनोवैज्ञानिक रूप से उसके भीतर के आंदोलन से मुक्त करते हैं। कहते हैं—हे निष्पाप अर्जुन! और मजे की बात यह है कि यह कह कर वे फिर वही कहते हैं कि दो निष्ठाएँ हैं। यह वे दूसरे अध्याय में कह चुके हैं। लेकिन तब तक अर्जुन को निष्पाप उन्होंने नहीं कहा था। अर्जुन तब डावाँडोल न था—अब वह फिर कहते हैं कि दो तरह की निष्ठाएँ हैं अर्जुन! सांख्य की और योग की, कर्म की और ज्ञान की।

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि एकदम तत्काल कृष्ण ने तीन बार नहीं कहा कि हे निष्पाप अर्जुन, हे निष्पाप अर्जुन, हे निष्पाप अर्जुन। नियम यही था। अदालत में शपथ लेते हैं तो तीन बार। इमाइल कुए है फ्रांस में अगर वह सुझाव देता है तो तीन बार। दुनिया के किसी भी संमोहन-शास्त्री (हिप्नोटिस्ट) और मनोवैज्ञानिक से पूछें तो वह कहेगा कि जितनी बार सुझाव दो उतना गहरा परिणाम होगा। कृष्ण कुछ ज्यादा जानते हैं। कृष्ण कहते हैं एक बार और छोड़ देते हैं, क्योंकि दुबारा कहने का मतलब है पहली बार कही हुई बात झूठ थी क्या!

जब अदालत में एक आदमी कहता है कि मैं परमात्मा की क़सम खाकर कहता हूँ कि सच बोलूँगा—फिर दुबारा कहता है कि परमात्मा की कसम खाकर कहता हूँ कि सच बोलूँगा तो पहली बात का क्या हुआ? और जिसकी पहली बात झूठ थी उसकी दूसरी बात का कोई भरोसा है? वह तीन बार भी कहेगा तो क्या होगा?

कृष्ण कुए से ज्यादा जानते हैं। कृष्ण एक बार कहते हैं इनोसेन्टली (सरलता से)—जैसे कि जान कर कहा ही नहीं—हे निष्पाप अर्जुन! और बात छोड़ कर आगे बढ़ जाते हैं। एक क्षण ठहरते भी नहीं। शक का मौका भी नहीं देते—हेजीटेशन (झिझक) का, विचारने का भी मौका नहीं देते। ऐसा भी नहीं लगता अर्जुन को कि उन्होंने कोई जान कर चेष्टा से कहा हो। बस ऐसा संबोधन किया और आगे बढ़ गये।

असल में उसका निष्पाप होना कृष्ण ऐसा मान रहे हैं जैसे कोई बात ही नहीं है। उन्होंने कहा, हे अर्जुन! और बस ऐसे ही चुपचाप आगे बढ़ गये। **जितना साइलेन्ट सजेशन (मौन सुझाव) उतना गहरा जाता है।** जितना चुप, जितना इन्डाइरेक्ट (परोक्ष), उतना ही चुपचाप भीतर सरक जाता है। जितनी तीव्रता से, जितनी चेष्टा से, जितना आग्रहपूर्वक कहा जाता है उतना ही वह खो जाता है।

पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों को बहुत कुछ सीखना है। कुए जब अपने मरीज को कहता है कि तुम बीमार नहीं हो और जब दुबारा कहता है कि तुम बीमार नहीं हो और जब तिबारा कहता है कि तुम बीमार नहीं हो तो कृष्ण उस पर हँसेंगे। वे कहेंगे कि तुम तीन बार कहते हो और तुम उसे तीन बार याद दिलाते हो कि बीमार हो—बीमार हो—बीमार हो। कृष्ण ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन! और आगे बढ़ गये और फिर कहा कि दो निष्ठाएँ हैं। अर्जुन को मौका भी नहीं दिया कि सोचे-विचारे, पूछे कि कैसा निष्पाप? मुझ पापी को निष्पाप क्यों कहते हैं? कोई मौका नहीं दिया। बात आयी और गयी और अर्जुन के मन में सरक गयी।

ध्यान रहे, जैसे ही चित्त सोचने लगता है वैसे ही बात गहरी नहीं जाती है। चित्त ने सोचा, उसका मतलब है कि बात सतह पर ही अटक गयी। चित्त ने सोचा उसका मतलब इतना ही है कि बात ऊपर-ऊपर रह गयी। ऊपरी लहरों में जकड़ गयी—गहरे में कहाँ जायेगी। विचार तो लहर है। सिर्फ वे ही बातें गहरे में जाती हैं जो बिना सोचे उतर जाती हैं, जहाँ सोचने का जरा भी मौका नहीं। और सोचने का मौका दूसरी बात में है ताकि इसमें सोचा ही न जा सके। तो कृष्ण कहते हैं कि दो निष्ठाएँ हैं। एक निष्ठा है ज्ञान की, दूसरी निष्ठा है कर्म की।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

अर्थ : "मनुष्य न तो कर्मों के करने से निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों को त्यागने मात्र से भगवत् साक्षात्कार रूप सिद्धि को प्राप्त होता है।

आचार्यश्री : कर्मों के न करने से निष्कर्म को मनुष्य प्राप्त नहीं होता और न ही सब-कुछ छोड़कर भाग जाने से भगवत् साक्षात्कार को उपलब्ध होता है। बड़े ही विद्रोही और क्रान्तिकारी शब्द हैं। क्या होगा त्यागियों का? क्या होगा भागने वालों का? कृष्ण कहते हैं मात्र कर्म को छोड़कर भाग जाने से कोई निष्कर्म को उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि **निष्कर्म कर्म के अभाव से ज्यादा बड़ी बात है। मात्र कर्म का न होना निष्कर्म नहीं है।** निष्कर्म और भी बड़ी घटना है। जैसे कि बीमारी का न होना स्वास्थ्य नहीं है। स्वास्थ्य और बड़ी घटना है। ऐसा हो सकता है कि आदमी बिलकुल बीमार न हो और बिलकुल स्वस्थ न हो। सब तरह की जाँच परख कहे कि कोई बीमारी नहीं है और आदमी बिलकुल ही स्वस्थ न हो।

बीमारी का न होना मात्र स्वास्थ्य नहीं है और मात्र कर्मों को छोड़ कर भाग जाने से निष्कर्म उपलब्ध नहीं होता। क्यों? कृष्ण की निष्कर्म की व्याख्या समझनी पड़ेगी, क्योंकि आमतौर पर हम अब तक कर्म के न करने को निष्कर्म समझते रहे हैं। निष्क्रियता को निष्कर्म समझा है। **निष्क्रियता निष्कर्म नहीं है।** तब तो आलसी भी निष्कर्म को उपलब्ध हो जायेगा, तब तो मुर्दे भी निष्कर्म को उपलब्ध हो जायेंगे। तब तो पत्थर इत्यादि परमात्म-साक्षात्कार में ही होंगे।

निष्कर्म नहीं, लेकिन कर्म कर्तारहित निष्कर्म बनता है। कर्म जहाँ भीतर करने वाला 'मैं' मौजूद नहीं है, निष्कर्म बनता है। **निष्कर्म कर्म का अभाव नहीं है, "कर्ता का अभाव है।** नॉट एबसेंस आफ डूईंग बट एबसेन्स आफ द डूअर।" कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि अगर तू यह ख्याल छोड़ दे कि तू कर रहा है तो तेरा कोई कर्म, कर्म नहीं है। तब सब निष्कर्म हो जाता है। अगर तू यह पकड़े रहे कि मैं कर्म कर रहा हूँ तो तू कर्म से भाग भी जाये तो भागना भी तेरा कर्म बन जाता है। भागना भी कर्म है। भागना भी तो पड़ेगा। त्यागना भी तो कर्म है, त्यागना भी तो पड़ेगा।

जहाँ कर्ता मौजूद है, जहाँ लग रहा है कि मैं कर रहा हूँ वहाँ कर्म मौजूद है चाहे वह करना आलस्य ही क्यों न हो, चाहे वह करना 'न-करना' ही क्यों न हो? लेकिन जहाँ लग रहा है कि मेरे करने का कोई सवाल ही नहीं, परमात्मा

कर रहा है, जो है, 'वह' कर रहा है। सारा जीवन बह रहा है, जहाँ 'मैं' एक हवा में डोलते हुए पत्ते की तरह हूँ। जहाँ 'मैं' नहीं डोल रहा हवा डोल रही है, जहाँ 'मैं' एक सागर की लहर की तरह है। 'मैं' नहीं लहरा रहा, सागर ही लहरा रहा है। **जहाँ मेरा मैं नहीं, वहाँ निष्कर्म है।** निष्क्रियता नहीं, निष्कर्म कर्म होगा फिर भी कर्म का जो उत्पात है, वह नहीं होगा।

कर्म होगा लेकिन कर्म की जो चिन्ता और संताप (एग्जाइटी) है वह नहीं होगी। कर्म होगा लेकिन कर्म के साथ जो विफलता और सफलता का रोग है वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म के पीछे वह जो महत्त्वाकांक्षा का ज्वर है, बुखार है वह नहीं होगा। **कर्म होगा लेकिन कर्म के पीछे वह जो फलाकांक्षा की विक्षिप्तता है वह नहीं होगी** और तब कर्म फूल की तरह हलका और आनंद-दायी हो जाता है—तब उसका कोई वजन नहीं रह जाता। तब कर्म फूल की तरह खिलता है। जब करने वाला मौजूद नहीं होता तब कर्म का आनंद ही और हो जाता है। तब वह परमात्मा को समर्पित हो जाता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि कर्म से छोड़ कर तू अगर भाग गया तो यह मत समझना कि तू निष्कर्म को उपलब्ध हो गया है। क्योंकि **जो निष्कर्म को उपलब्ध होता है वह कर्म को छोड़कर क्यों भागेगा?** वह स्वीकार कर लेगा जो नियति (डेस्टिनी) है। जो हो रहा है, वह उसे स्वीकार कर लेगा।

दूसरी बात वे कहते हैं कि संसार को, चीजों को त्यागकर, छोड़कर कोई अगर सोचता हो कि त्यागकर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाये, तो जरूरी नहीं। ऐसा नहीं होता है। परमात्मा का साक्षात्कार किसी भी सौदे से नहीं होता है। ऐसा नहीं है कि आपने ये-ये चीजें छोड़ दीं तो परमात्मा का साक्षात्कार हो जायेगा।

एक संन्यासी मेरे पास आये। वे कहने लगे कि मैंने घर छोड़ दिया, पत्नी छोड़ दी, बच्चे छोड़ दिये, दूकान छोड़ दी, लेकिन अभी तक परमात्मा का साक्षात्कार क्यों नहीं हुआ? तो मैंने कहा कि कितनी कीमत थी मकानों की, दूकानों की, पत्नी की, बच्चों की? हिसाब है? तो उन्होंने कहा—आपका मतलब! मैंने कहा कि पक्का हो जाय कि कितने मूल्य की चीजें छोड़ी हैं। तो फिर परमात्मा के सामने शिकायत की जायेगी कि यह आदमी इतना दाम लगा रहा है तुम्हारे लिये और तुम अभी तक छिपे हो! इसने एक मकान छोड़ दिया। मकान के बदले में परमात्मा? असल में जहाँ भी **बदले का ख्याल है, वहाँ व्यवसाय है, वहाँ धर्म नहीं है।**

त्यागी कहता है, मैंने यह छोड़ दिया और अभी तक नहीं हुआ साक्षात्कार। लेकिन तुमसे कहा किसने कि छोड़ने से हो जायेगा और जो तुमने छोड़ दिया

उसका मूल्य क्या है ? और कल जब मौत आयेगी तब तुम क्या करोगे ? उसे छोड़ोगे कि पकड़े लिये चले जाओगे ? मौत आयेगी तो वह छूट जायेगा। और जब तुम नहीं थे तब भी वह था और जब तुम नहीं रहोगे तब भी वह होगा। जो तुम्हारे होने के पहले था और तुम्हारे होने के बाद रहेगा, उसे तुम छोड़ सकते हो ? उसकी मालकियत पागलपन है। और ध्यान रहे **त्याग में भी मालकियत का ख्याल है**। जब एक आदमी कहता है मैंने त्यागा तो वह यह कह रहा है कि मालकियत मेरी थी। सच बात तो यह है कि मालकियत नहीं है। त्यागेंगे कैसे ?

तो कृष्ण कहते हैं कि कुछ त्यागने से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता। परमात्मा का साक्षात्कार बात ही अलग है। वह त्याग से फलित नहीं होती है। हाँ, **ऐसा हो सकता है कि परमात्मा के साक्षात्कार से त्याग फलित हो जाये**। ऐसा होता है। **क्योंकि, जब कोई विराट् को पहचान लेता है तो क्षुद्र को पकड़ने को राजी नहीं रहता**। जब किसी को हीरे मिल जाते हैं तो कंकड़-पत्थर छूट जाते हैं। जब किसी को महल मिल जाता है तो झोपड़े को भूल जाता है। जब किसी को परम जीवन उपलब्ध हो जाता है तो क्षुद्र दैनन्दिन जीवन की व्यर्थताओं का जाल टूट जाता है। त्याग से परमात्मा मिलता है, ऐसा नहीं है। लेकिन, परमात्मा से अक्सर त्याग फलित होता है। क्योंकि **परमात्मा महाभोग है, वह परम रस है**।

कृष्ण यहाँ एक बहुत ही कैटेगेरिकल, निश्चयात्मक वक्तव्य दे रहे हैं। वह वक्तव्य बहुत कीमती है। उस वक्तव्य पर पूरे जीवन का स्वस्थ होना निर्भर है। वह वक्तव्य यह है कि कर्म नहीं छोड़ना है। कर्म छोड़ा भी नहीं जा सकता। **जीते जी कर्म को छोड़ने का कोई उपाय भी नहीं**। संन्यासी भी कर्म करेगा ही—दुकान नहीं चलायेगा तो भीख माँगेगा। फर्क क्या पड़ता है ? भीख माँगना कोई कम कर्म है दूकान करने से ? उतना ही कर्म है। घर नहीं बनायेगा, आश्रम बनायेगा। घर छोड़कर आश्रम बनाना कोई कम कर्म है ? उतना ही कर्म है।

कर्म से भागा नहीं जा सकता है। जब कर्म से भागा ही नहीं जा सकता तो **कर्म से भागना सिर्फ हिपोक्रेसी में, पाखण्ड में ले जायेगा**। जो असंभव है उसे करने की कोशिश पाखंड पैदा करती है। अगर अर्जुन भाग भी जाये युद्ध के मैदान को छोड़ कर तो करेगा क्या ? कुछ तो करेगा। वह जो भी करेगा वह कर्म है। कर्म से नहीं भागा जा सकता तो फिर क्या कोई उपाय नहीं है ?

कृष्ण एक नया द्वार, एक नया डाइमेन्सन, एक नया आयाम खोलते हैं। वह कहते हैं कर्म जारी रखो, लेकिन कर्ता से मुक्त हो जाओ। **कृष्ण मनुष्य के व्यक्तित्व में बड़ी गहरी क्रान्ति की बात कहते हैं**। वे कहते हैं कि कर्म जारी रखो। कर्म से दूर जाया नहीं जा सकता। लेकिन कर्ता से परे जाया जा सकता है। **कर्म को चलने दो, कर्ता को जाने दो**। भीतर से कर्ता को छोड़ो, यह छोड़ो कि मैं कर रहा हूँ। इसलिए कृष्ण बार-बार गीता के अर्जुन को कहते हैं कि जिन्हें तू सोचता है कि तू मारेगा, मैं तुझे कहता हूँ कि वे पहले ही मारे जा चुके हैं। जिन्हें तू सोचता है कि तेरे कारण मरेंगे, तो तू नासमझ है। तू मात्र निमित्त है। वे तेरे बिना भी मरेंगे। **पूरे समय वे यह कह रहे हैं कि तू यह ख्याल छोड़ दे कि तू करने वाला है**। और अर्जुन को परेशानी यही है कि उसे लग रहा है कि करने वाला मैं हूँ। अगर मैं भाग जाऊँ तो युद्ध बच जाय। यह जरूरी नहीं है। अर्जुन अकेला नहीं है युद्ध में।

अर्जुन के भागने से युद्ध बच जायेगा यह जरूरी नहीं। **युद्ध अनंत कारणों पर निर्भर है**। लोग सोचते थे कि पहला महायुद्ध हो गया, अब दूसरा महायुद्ध नहीं होगा। दूसरा भी हो गया। फिर दूसरे के बाद लोग सोचने लगे कि अब तीसरा भी नहीं होगा, क्योंकि अब हिटलर भी मर गया। अब मुसोलिनी भी नहीं है, अब तीसरा महायुद्ध किस लिए होगा ? लेकिन क्या फर्क पड़ता है माओ को पैदा होने से कैसे रोकियेगा ? और नामों से क्या फर्क पड़ता है, कोई फर्क नहीं पड़ता। नहीं हिटलर, तो माओ होगा ? माओ नहीं तो कोई और होगा, नहीं कोई और तो कोई अ, ब, स होगा। युद्ध इतना विराट् जाल है कि कोई अर्जुन यह सोचता हो कि मेरे भाग जाने से युद्ध हट जायेगा तो वह बहुत ही इगोइस्ट है, बहुत अहंकारी है। सोच रहा है मेरी वजह से ही इतना बड़ा विराट् युद्ध हो रहा है।

सभी को ऐसा ख्याल होता है कि सारी दुनिया उन्हीं के कारण चल रही है। छोटों को, बड़ों को, अनुयायियों को, नेताओं को सबको यह ख्याल होता है कि उनसे ही सारी दुनिया चल रही है, वे गये कि एकदम से सब कुछ चला जायेगा। लेकिन नेपोलियन चला जाता है, कहीं कोई पत्थर नहीं हिलता। सिकन्दर जैसे चले जाते हैं और किसी पत्ते को खबर नहीं होती है। हिटलर आते हैं चले जाते हैं, चर्चिल, नेहरू, गांधी सब आते हैं, खो जाते हैं। जगत् चलता चला जाता है।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि तू यह पागलपन छोड़ दे कि तेरी वजह से कुछ हो रहा है। वजह बड़ी है। विराट् है जाल उसका। उस विराट् जाल को नियति (डेस्टिनी) कहते हैं। यह एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। अनंत-अनंत कारणों के जाल पर यह निर्भर है। इसलिए यह पागलपन छोड़ कि तेरे हट जाने से युद्ध नहीं होगा, या कि तेरे होने से युद्ध हो रहा है। तू नहीं भी हो तो भी

युद्ध हो जायेगा। क्योंकि तू बहुत छोटा पुर्जा है। तेरे बिना भी युद्ध हो सकता है। क्योंकि जिसने तुम्हें पुर्जा चुना है वह किसी दूसरे को भी पुर्जा चुन सकता है। और तुझसे तो पूछ कर चुना नहीं है उसने, दूसरे को भी बिना पूछे चुन लेगा।

कर्ता होने का ख्याल अगर गिर जाय तो व्यक्ति देख सके कि **अनंत नियमों के जाल में जीवन चलता है।** एक धारा है जो बही जा रही है। उसमें हम तिनकों से बहते हैं। हम बहते हैं यह कहना भी शायद ठीक नहीं। धारा बहती है; हम तो तिनके हैं, हम क्या खाक बहते हैं। धारा बहती है, हम सिर्फ धारा में होते हैं। धारा पूरब बहती है तो हम पूरब बहते हैं, धारा पश्चिम बहती है तो हम पश्चिम बहते हैं। कृष्ण का सारा जोर इस बात पर है कि तू यह भूल जा कि तू करने वाला है और फिर कर्म को होने दे और मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ, तब कोई कर्म तुझे नहीं छुयेगा।

पाप नहीं छूता, पाप का कर्ता, करने वाला छूता है। पुण्य नहीं छूता, पुण्य का करने वाला छूता है। अगर ठीक से समझें, **आध्यात्मिक अर्थों में** समझें तो **करने का ख्याल एक मात्र पाप है। कर्ता का बोध प्रारंभिक पाप (ओरिजिनल सिन)** है। कर्ता का मूल ख्याल है कि मैं करता हूँ। लेकिन यह सोचने जैसा है। इधर कृष्ण तो कहते हैं कि हे अर्जुन! **कर्ता एक ही है—परमात्मा।** तू संशय छोड़।

१८वीं सदी के बाद हमने सारी दुनिया से परमात्मा को हटाने की कोशिश की। कॉस्मिक आर्डर से, जगत् की व्यवस्था से हमने कहा कि तुम सेवा-निवृत्त (रिटायर) हो जाओ। परमात्मा को कहा कि आप पीछा छोड़ो। बहुत दिन हो गये, आदमी को कर्ता बनने दो। ध्यान रहे कि अगर हम परमात्मा को हटा दें इस ख्याल से तो जगत् से तो नहीं हटा सकते, लेकिन अपने ख्याल से हटा सकते हैं। हटा दे परमात्मा को तो आदमी कर्ता हो जाता है।

क्या आपने कभी यह सोचा कि **जिन-जिन समाजों में आदमी कर्ता हो गया और परमात्मा कर्ता नहीं रहा, वहाँ मानसिक तनाव अपनी अति पर पहुँच गया?** वहाँ चिन्ता भयंकर हो गयी। वहाँ चित्त एकदम विक्षिप्त होने की हालत में पहुँच गया। **क्योंकि, सारा बोझ मेरे 'मैं' पर पड़ गया।** दुनिया चल रही है मेरे 'मैं' पर, 'मैं' हो गया सेन्टर (केंद्र)। आज पश्चिम की सारी सभ्यता 'मैं' पर खड़ी है। बड़ी पीड़ा है इससे—न रात नींद न दिन चैन। कहीं कोई शान्ति नहीं, कहीं कोई अर्थ नहीं। सब बेबूझ हो गया है, लेकिन एक बात ख्याल में नहीं आती कि जिस दिन से आदमी कर्ता बनने के ख्याल में पड़ा है उस दिन से चिन्ता उसने पुकार ली है। अर्जुन भी चिन्ता में पड़

गया है। **चिन्ता कर्ता होने के ख्याल से ही पैदा होती है। कर्म से चिन्ता नहीं होती।** आप कितना ही कर्म करें, कर्म चिन्ता नहीं लाता और जरा-सा भी कर्ता बने तो चिन्ता आनी शुरू हो जाती है।

एग्जाइटी (संताप) जो है वह कर्ता की छाया है। अर्जुन बड़ा चिंतित है। उसकी सारी चिन्ता एक बात से है कि वह सोच रहा है कि मैं मारने वाला हूँ और मैं न मारूँ तो ये न मरेंगे। मैं अगर युद्ध न करूँ तो युद्ध बंद हो जायेगा, शांति छा जायेगी। उसे ऐसा लग रहा है कि वही निर्णायक है। कोई निर्णायक नहीं। समष्टि निर्णायक है, नियति निर्णायक है। इसलिए कृष्ण उससे कहते हैं कि तू कर्ता को छोड़ और कर्म को चलने दे।

निष्पाप बता कर जो दूसरी बात अर्जुन से कृष्ण कहते हैं वह निष्पाप में ले जाने वाली है। पहले उससे कहते हैं कि तू निष्पाप है और फिर वे जो दूसरा वक्तव्य देते हैं वह समस्त पापों के बाहर ले जाने वाला है। वे निष्पाप कह कर चुप नहीं हो जाते, वे निष्पाप बनने के लिए राह भी देते हैं। आश्वासन देकर मान नहीं लेते कि बात समाप्त हो गयी। बात सिर्फ शुरू हुई और **आदमी पूर्ण निष्पाप उसी दिन हो जाता है जिस दिन पूर्ण अकर्ता हो जाता है।**

कर्म नहीं बाँधते, कर्ता बाँध लेता है। कर्म नहीं छोड़ना है। कर्ता छूट जाये तो छूटना हो जाता है। ठीक उसके साथ ही दूसरी बात उन्होंने कही है—कि त्याग साक्षात्कार को नहीं ले जाता है। क्यों नहीं ले जाता है त्याग साक्षात्कार को? नहीं ले जाता इसलिए कि हम परमात्मा के सामने सौदे की हालत में खड़े नहीं हो सकते, बारगेनिंग नहीं होती, खरीद-फरोख्त नहीं हो सकती।

'त्याग नहीं समर्पण' इस पर आगे हम बात करेंगे। **त्यागी कभी समर्पित नहीं होता।** त्यागी आदमी कभी समर्पण नहीं करता। वह कहता है कि मेरे पास कारण है कि मैंने इतना छोड़ा। अब मुझे मिलना चाहिए। समर्पण तो वह करता है जो कहता कि मेरे पास तो कुछ भी नहीं है, मैं तो कुछ भी नहीं हूँ जो दावा कर सकूँ कि मुझे मिलना चाहिए। मैं तो सिर्फ प्रार्थना कर सकता हूँ, मैं तो सिर्फ चरणों में सिर रख सकता हूँ। मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है।

समर्पण वह करता है जिसके ख्याल में यह आ जाता है कि मैं पूर्ण असहाय हूँ, टोटल हेल्पलेस हूँ। बिलकुल मेरे पास कुछ भी नहीं है, परमात्मा को देने को। मैं रो सकता हूँ, चिल्ला सकता हूँ, पुकार सकता हूँ। दे तो कुछ भी नहीं सकता। जो इतना दीन, इतना दरिद्र, इतना असहाय, इतना बेसहारा होकर पुकारता है, वह समर्पित हो जाता है, वह साक्षात्कार को उपलब्ध हो जाता है।

त्यागी की तो अकड़ होती है, वह बेसहारा नहीं होता। उसके पास तो बैंक-बैलेन्स होता है त्याग का। कहता है, इतना मैंने छोड़ा है—इतने हाथी, इतने

घोड़े, इतने मकान—कहाँ हो, बाहर निकलो। त्याग पूरा कर दिया है—साक्षात्कार होना चाहिए।

त्यागी के पास तो दम्भ होगा ही। त्यागी कभी दम्भ के बाहर नहीं हो पाता। हाँ, उनकी बात दूसरी है जिनके दम्भ के जाने से त्याग फलित होता है। पर उनको त्याग का कभी पता नहीं चलता। उनको पता ही नहीं चलता कि उन्होंने कुछ त्यागा है। अगर आप उनसे कहें कि आपने कुछ त्यागा है तो वे कहेंगे कि कभी कुछ था ही नहीं हमारे पास—हम त्यागेंगे कैसे! अगर उनसे आप कहें कि कुछ छोड़ा है तो वे कहेंगे कि कभी कुछ पकड़ा क्या था? छोड़ेंगे कैसे? खाली हाथ है हमारे पास—कुछ है नहीं। हम सिर्फ खाली हाथ ही परमात्मा के चरणों में रखते हैं और ध्यान रहे, **जो भरे हाथ परमात्मा के सामने जाता है वह खाली हाथ लौट आता है और जो खाली हाथ जाता है उसके हाथ भर दिये जाते हैं।**

आज इतना ही, फिर कल हम बात करेंगे।

दूसरा प्रवचन

गीता-ज्ञान यज्ञ, बम्बई, रात्रि, दिनांक ३० दिसम्बर १९७०

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

अर्थ : "सर्वथा कर्मों का स्वरूप से त्याग हो भी नहीं सकता है, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है। निःसंदेह सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।"

आचार्यश्री : जीवन ही कर्म है। मृत्यु कर्म का अभाव है। जन्म कर्म का प्रारम्भ है, मृत्यु कर्म का अन्त है। **जीवन में कर्म को रोकना असम्भव है।** ठीक से समझें तो जीवन और कर्म पर्यायवाची हैं। एक ही अर्थ है उनका। इसलिए जीते जी कर्म चलेगा ही। इस सम्बन्ध में मनुष्य की कोई स्वतन्त्रता नहीं है। सार्त्र ने अपने एक बहुत ही प्रसिद्ध वचन में कहा है कि "मैन इज कन्डेम्ड टू बी फ्री—आदमी स्वतन्त्र होने के लिए परवश (अभिशप्त) है। लेकिन, सार्त्र को शायद पता नहीं" है कि आदमी कुछ बातों में परतन्त्र होने के लिए भी परवश है, जैसे कर्म। कर्म के सम्बन्ध में जीते जी छुटकारा असम्भव है। जीने की प्रत्येक क्रिया कर्म है। स्वाँस भी लूँगा तो भी कर्म होगा। उठूँगा, बैठूँगा तो भी कर्म होगा। **जीना कर्म की प्रॉसेस, कर्म की प्रक्रिया का ही नाम है।** इसलिए जो लोग सोचते हैं कि जीते जी कर्म त्याग कर दें वे सिर्फ असम्भव बातें सोच रहे हैं। वह सम्भव नहीं हो सकता है। बस सम्भव इतना ही हो सकता है वे एक कर्म को छोड़ कर दूसरे कर्म को करना शुरू कर दें।

जिसे हम गृहस्थ कहते हैं वह एक तरह के कर्म करता है। जिसे हम संन्यासी कहते हैं वह दूसरे तरह के कर्म करता है। संन्यासी कर्म नहीं छोड़ पाता। इसमें संन्यासी का कोई कसूर नहीं है। जीवन का स्वभाव ऐसा है। इसलिए **जो कर्म छोड़ने की असम्भव आकांक्षा करेगा वह पाखण्ड में, हिपोक्रेसी में गिर जायेगा।** इस देश में वैसी दुर्घटना घटी। कृष्ण की बात नहीं सुनी गयी, यद्यपि आप कहेंगे कि गीता से ज्यादा कुछ भी नहीं पढ़ा गया है। लेकिन, साथ ही मैं यह भी कहूँगा कि **गीता से कम कुछ भी नहीं समझा**

गया। अक्सर ऐसा होता है कि जो बहुत पढ़ा जाता है उसे हम समझना बन्द कर देते हैं। बहुत बार पढ़ने से ऐसा लगता है कि बात समझ में आ गयी है। स्मरण हो जाने से लगता है कि समझ में आ गयी। स्मृति ही ज्ञान मालूम होने लगती है। गीता कंठस्थ है और पृथ्वी पर सर्वाधिक पढ़ी गयी किताबों में से एक है, लेकिन सबसे कम समझी गयी किताबों में से एक है।

कर्म नहीं छोड़ा जा सकता—फिर भी इस देश का संन्यासी हजारों साल से कर्म छोड़ने की असंभव चेष्टा कर रहा है। कर्म नहीं छूटा सिर्फ निठल्लापन पैदा हुआ है। कर्म नहीं छूटा, सिर्फ निष्क्रियता पैदा हुई। और **निष्क्रियता का अर्थ है व्यर्थ कर्मों का जाल,** जिनसे कुछ भी फलित नहीं होता। लेकिन कर्म जारी रहते हैं। पाखण्ड उपलब्ध हुआ है। **जो कर्म को छोड़कर भागेगा उसकी कर्म की ऊर्जा व्यर्थ के कर्मों में सक्रिय हो जाती है।** दो तरह से लोग कर्म को छोड़ने की कोशिश करते हैं। दोनों ही एक सी भ्रान्तियाँ हैं। एक कोशिश संन्यासी ने की है, कर्म को छोड़ने की। सब छोड़ दे, कुछ न करे। लेकिन कुछ न करने का मतलब सिर्फ आत्मघात हो सकता है और आत्मघात भी करना पड़ेगा। वह भी अन्तिम कर्म होगा। एक और रास्ता है जिससे कर्म छोड़ने की आकांक्षा की जाती रही है। वह भी समझ लेना जरूरी है।

पूर्व ने संन्यासी के रास्ते से कर्म त्याग की कोशिश की है और असफल हुआ है। कृष्ण की बात नहीं सुनी गयी। पश्चिम ने दूसरे ढंग से कर्म को छोड़ने की कोशिश की है और वह यह है कि यदि यन्त्र सारे काम कर दें तो आदमी कर्म से मुक्त हो जाय। कर्म से मुक्त हो जाय तो परम आनन्द को उपलब्ध हो जाय। लेकिन पश्चिम दूसरी मुश्किल में पड़ गया है और वह मुश्किल यह है कि जितना कम काम आदमी के हाथ में है उतना आदमी ज्यादा उपद्रव हाथ में लेता चला जा रहा है।

वह जो कर्म की ऊर्जा है वह प्रकट होना चाहती है। वह कर्म की ऊर्जा कहीं से प्रकट होगी ही। इसलिए पश्चिम में छुट्टी के दिन ज्यादा दुर्घटनाएँ होंगी। ज्यादा हत्याएँ होंगी, ज्यादा चोरियाँ होंगी, ज्यादा बलात्कार होंगे। क्योंकि छुट्टी के दिन कर्म की ऊर्जा क्या करे? अगर एक महीने के लिए पूरी छुट्टी दे दी जाय पश्चिम को तो सारी सभ्यता एक महीने में नष्ट हो जायगी और नीचे गिर जायगी। इसलिए पश्चिम के विचारक अब परेशान हैं कि आज नहीं कल यन्त्र के हाथ में सारा काम चला जायगा तो फिर हम आदमी को कौन-सा काम देंगे और अगर आदमी को काम न मिला तो आदमी कुछ तो करेगा ही और वह 'कुछ' खतरनाक हो सकता है। अगर वह काम का न हुआ तो आत्मघाती हो सकता है।

कृष्ण की बात पश्चिम में भी नहीं सुनी गयी। असल में कृष्ण की बात किसी ने भी नहीं सुनी कि कर्म से छुटकारा नहीं क्योंकि जीवन और कर्म एक ही चीज के दो नाम हैं। सिर्फ एक बात हो सकती है। इसका यह मतलब नहीं है कि हम जैसे जी रहे हैं वैसे ही जीते रहें और वैसे ही करते चले जायँ। अगर ऐसा कोई समझता है तो उसे भी कृष्ण की बात सुनायी नहीं पड़ी। **कृष्ण यह कह रहे हैं कि कर्म को बदलने की उतनी फिक्र मत करो, कर्ता को बदलने की फिक्र करो।** असली सवाल यह नहीं है कि तुम क्या कर रहे हो? क्या नहीं कर रहे हो? असली सवाल यह है कि तुम क्या हो? और क्या नहीं हो? असली सवाल 'डूइंग' का नहीं 'बीइंग' का है। असली सवाल यह है कि भीतर तुम क्या हो? अगर तुम भीतर गलत हो तो तुम जो भी करोगे उससे गलत फलित होगा और अगर तुम भीतर सही हो तो तुम जो भी करोगे वह सही फलित होगा। कर्म का प्रश्न नहीं है। वह जो भीतर व्यक्ति है, चेतना है, आत्मा है, कर्म उससे ही निकलते हैं, उससे ही फलते-फूलते हैं। उस चेतना, उस आत्मा का सवाल है और वह आत्मा बीमार है। एक बहुत बड़ी बीमारी है। लेकिन वह बड़ी बीमारी हमें लगता है कि हमारा बड़ा स्वार्थ है। **वह आत्मा बीमार है 'मैं' के भाव से, इगोइज्म से।** 'मैं' हूँ यही आत्मा की बीमारी है।

कभी शायद आपने ख्याल न किया हो अगर शरीर पूरा स्वस्थ हो तो आपको शरीर का पता नहीं चलता। ठीक से समझा जाये तो **स्वास्थ्य का एक ही प्रमाण होता है कि शरीर का पता न चलता हो**—बॉडीलेसनेस (देह-शून्यता) आ जाय। आपके सिर में दर्द होता है तो सिर का पता चलता है, अगर सिर में दर्द न हो तो सिर का पता नहीं चलता। अगर सिर का थोड़ा भी पता चलता हो तो समझना थोड़े में थोड़ा सिर बीमार है। अगर पैर में पीड़ा हो तो पैर का पता चलता है, पाँव में काँटा गड़ा हो तो पाँव का पता चलता है। जहाँ भी वेदना है वहीं बोध है, जहाँ वेदना नहीं वहाँ बोध नहीं। **जहाँ वेदना है वहीं चेतना सघन हो जाती है** और जहाँ वेदना नहीं है वहाँ चेतना विदा हो जाती है।

यह वेदना शब्द भी बहुत अद्भुत है। इसके दो अर्थ होते हैं। **इसका अर्थ ज्ञान भी होता है और दुःख भी होता है।** हमारे पास शब्द हैं वेद, वेद का अर्थ होता है ज्ञान। वेद से ही वेदना बना है। वेदना का एक अर्थ तो होता है ज्ञान, बोध, कान्शसनेस और एक अर्थ होता है पीड़ा, दुःख। यह अर्थ अकारण नहीं होता है। असल में जहाँ पीड़ा है वहीं बोध टिक जाता है। अगर पैर में काँटा गड़ा है तो सारा बोध, सारा अटेन्शन वहीं, उसी काँटें पर पहुँच जाता है। **अगर शरीर में कहीं भी कोई पीड़ा नहीं है तो शरीर का बोध मिट जाता है,**

बॉडी कांशेसनेस चली जाती है। शरीर का पता नहीं चलता है। विदेह हो जाता है आदमी, अगर शरीर स्वस्थ हो। ठीक ऐसे ही **अगर आत्मा स्वस्थ हो तो 'मैं' का पता नहीं चलता।**

'मैं' का पता चलता है तभी तक जब तक आत्मा बीमार है। इसलिए जो आत्मा के तल पर स्वस्थ हो जाते हैं, वे होते तो हैं लेकिन उन्हें ऐसा नहीं लगता है कि मैं हूँ। उन्हें ऐसा ही लगता है—'हूँ'। 'हूँ' काफी हो जाता है, 'मैं' विदा हो जाता है। वह 'मैं' भी एक काँटे की तरह चुभता है चौबीस घण्टे। रास्ते पर चलते, उठते-बैठते, कोई देखे तो, कोई न देखे तो भी वह **'मैं' का काँटा चुभता रहता है।** उस 'मैं' के घाव से भरे हुए हम कर्ता से घिर जाते हैं।

अर्जुन भी उसी पीड़ा में पड़ा है। उसका 'मैं' सघन होकर उसे पीड़ा दे रहा है। वह क्या कह रहा है? वह यह नहीं चाहता कि युद्ध में हिंसा होगी इसलिए मैं युद्ध नहीं करना चाहता हूँ। नहीं वह यह नहीं कहता। वह कहता है कि युद्ध में 'मेरे' लोग मर जायेंगे। इसलिए मैं युद्ध नहीं करना चाहता। तथा मेरे प्रिय जन, मेरे सम्बन्धी बड़ी संख्या में युद्ध के आतुर खड़े हैं। सब मेरे ही हैं, वे मर जायेंगे। कभी आपने सोचा है कि जब मेरा मरता है तो पीड़ा क्यों होती है।

क्या इसलिए पीड़ा होती है कि जो मेरा था वह मर गया या इसलिए पीड़ा होती है कि मेरा होने की वजह से मेरे मैं का एक हिस्सा था जो मर गया। ठीक से समझेंगे तो किसी के मरने से किसी को कभी कोई पीड़ा नहीं होती है। लेकिन मेरा है तो पीड़ा होती है। क्योंकि जब भी मेरा कोई मरता है तो मेरे इगो ('मैं') का एक हिस्सा, मेरे अहंकार का एक हिस्सा बिखर जाता है भीतर। जो मैंने उसके सहारे सम्हाला था।

इसलिए तो हम 'मेरे' को बढ़ाते हैं। मेरा मकान हो, मेरी जमीन हो, मेरा राज्य हो, मेरा पद हो, मेरी पदवी हो, मेरा ज्ञान हो, मेरे मित्र हों। **जितना मेरा 'मेरे' का विस्तार होता है उतना मेरा 'मैं' मजबूत होता है** और बीच में सघन होकर सिंहासन पर बैठ जाता है। अगर मेरा शब्द विदा हो जाय तो मेरे 'मैं' को खड़े रहने का कोई सहारा न रह जाय और वह भूमि पर गिरकर टूट जायेगा, बिखर जायेगा।

अर्जुन की पीड़ा क्या है? अर्जुन की पीड़ा यह है कि सब मेरे हैं। इसलिए वह बार-बार कहता है कि जिनके लिए राज्य जीता जाता है, जिनके लिए धन कमाया जाता है, जिनके लिए यश की कामना की जाती है, वे सब मेरे मर जायेंगे युद्ध में। तो मैं इस राज्य को, इस धन को, इस साम्राज्य को, इस वैभव को पाकर करूँगा भी क्या? जब 'मेरे' ही मर जायेंगे। लेकिन, उसे भी साफ

नहीं है कि **'मेरे' के मरने का इतना डर 'मैं' के मरने का डर है।** जब पत्नी मरती है तो पति का भी एक हिस्सा मर जाता है। उतना ही जितना जुड़ा था, उतना ही जितना पत्नी उसके भीतर प्रवेश कर गयी थी और उसके 'मैं' का हिस्सा बन गयी थी।

एकदम से ख्याल में नहीं आता कि **हम सब एक दूसरे से अपने 'मैं' के लिए भोजन जुटाते हैं।** एक माँ को बच्चा हो रहा है। जिस दिन बच्चा पैदा होता है उस दिन अकेला बच्चा ही पैदा नहीं होता है, उस दिन माँ भी पैदा होती है। उसके पहले सिर्फ स्त्री थी, बच्चे के जन्म के बाद वह माँ है। यह जो माँ होना उसमें आया यह बच्चे के होने से आया। अब उसके 'मैं' में माँ होना भी जुड़ गया। कल यह बच्चा मर जाय तो उसका माँ होना फिर मरेगा और उसके 'मैं' से माँ होना फिर गिरेगा। बच्चे का मरना नहीं अखरता है, 'मैं' अखरता है, क्योंकि मेरे भीतर कुछ मरता है, मेरे 'मैं' की कोई सम्पदा छिनती है, मेरे 'मैं' का कोई आधार टूटता है।

उपनिषदों में कहा है कि कोई किसी दूसरे के लिए दुःखी नहीं होता है, सब अपने लिए दुःखी होते हैं। कोई किसी दूसरे के लिए आनन्दित नहीं होता है, सब अपने लिए आनन्दित होते हैं। कोई किसी दूसरे के लिए जीता नहीं है, **सब अपने 'मैं' के लिए जीते हैं।** हाँ, जिन-जिन से हमारे 'मैं' को सहारा मिलता है वे अपने मालूम पड़ते हैं और जिन-जिन से हमारे 'मैं' को विरोध मिलता है वे पराये मालूम पड़ते हैं। जो मेरे 'मैं' को आसरा देते हैं वे मित्र हो जाते हैं और जो मेरे 'मैं' को खंडित करना चाहते हैं वे शत्रु हो जाते हैं। इसलिए **जिसका 'मैं' गिर जाता है उसका शत्रु और मित्र भी पृथ्वी से विदा हो जाता है।** उसका फिर कोई मित्र नहीं और फिर कोई शत्रु नहीं। क्योंकि शत्रु और मित्र सभी 'मैं' के आधार पर निर्मित होते हैं।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि **कर्म से भागने का कोई उपाय नहीं है।** मनुष्य को परवश कर्म तो करना ही होगा, **क्योंकि कर्म जीवन है।** इस पर इतना जोर इसीलिए दे रहे हैं कि अर्जुन को दिखायी पड़ जाय कि असली बदलाहट, **असली म्यूटेशन, असली क्रान्ति कर्म में नहीं, कर्ता में है। कर्म नहीं मिटा डालना, कर्ता को बिदा कर देना है।** जब भीतर से कर्ता विदा हो जाय तो कर्म चलता रहेगा। लेकिन तब कर्म परमात्मा के हाथ में समर्पित होकर चलता है। तब मेरा कोई भी दायित्व, तब मेरा कोई भी बोझ नहीं रह जाता। इस बात को ही कृष्ण आगे और स्पष्ट करेंगे।

प्रश्न : आचार्यश्री, पाँचवें श्लोक पर प्रश्न करने से पहले कल की चर्चा के सम्बन्ध में दो छोटे प्रश्न रह गये हैं। कल आपने कहा कि क्षत्रिय बहिर्मुखी है

और ब्राह्मण अन्तर्मुखी है और तदनुरूप इनकी साधना में भेद है। कृपया बतायें कि वैश्य और शूद्र को आप किस चित्त-कोटि (Type of mind) में रखेंगे ?

आचार्यश्री : क्षत्रिय बहिर्मुखता का प्रतीक है, ब्राह्मण अन्तर्मुखता का प्रतीक है। फिर शूद्र और वैश्य किस कोटि में हैं ? दो तीन बातें समझनी होंगी।

अन्तर्मुखता अगर पूरी खिल जाय तो ब्राह्मणत्व फलित होता है, अन्त-र्मुखता अगर खिले ही नहीं तो शूद्रत्व फलित होता है। बहिर्मुखता पूरी खिल जाय तो क्षत्रिय फलित होता है, बहिर्मुखता अगर खिले ही नहीं तो वैश्य फलित होता है। इसे ऐसा समझें एक रेंज (क्षेत्र) है अन्तर्मुखी का—एक शृंखला है, एक सीढ़ी है। अन्तर्मुखता की सीढ़ी के पहले पायदान पर जो खड़ा है वह शूद्र है। और अन्तिम पायदान पर जो खड़ा है वह ब्राह्मण है। बहिर्मुखता भी एक सीढ़ी है। इसके प्रथम पायदान पर जो खड़ा है वह वैश्य है और उसके अन्तिम पायदान पर जो खड़ा है वह क्षत्रिय है।

यह जन्म से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए बात नहीं कर रहा हूँ। मैं व्यक्तियों के टाइप की बात कर रहा हूँ। ब्राह्मणों में शूद्र पैदा होते हैं, शूद्रों में ब्राह्मण पैदा होते हैं। क्षत्रियों में वैश्य पैदा हो जाते हैं, वैश्यों में क्षत्रिय पैदा हो जाते हैं। यहाँ मैं जन्म-जात वर्ण की बात नहीं कर रहा हूँ। **यहाँ मैं वर्ण के मनोवैज्ञा-निक तथ्य की बात कर रहा हूँ।** इसलिए यह भी ध्यान में रखने जैसा है कि ब्राह्मण जब भी नाराज होगा किसी पर तो कहेगा शूद्र है तू और क्षत्रिय जब भी नाराज होगा तो कहेगा कि बनिया है तू। कभी सोचा है इस पर ?

क्षत्रिय की कल्पना में बनिया होना नीचे से नीची बात है—ब्राह्मणों की कल्पना में शूद्र होना नीचे से नीची बात है। क्षत्रिय की कल्पना अपनी ही बहिर्मुखता में जो निम्नतम सीढ़ी देखती है वह वैश्य की है। इसलिए **अगर क्षत्रिय पतित हो तो वैश्य हो जाता है,** अगर वैश्य विस्तृत हो तो क्षत्रिय हो जाता है।

इसकी बहुत घटनाएँ घटीं। और कभी-कभी **जब कोई व्यक्ति समझ नहीं पाता अपने टाइप को, अपने व्यक्तित्व को, अपने स्वधर्म को तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है।** महावीर क्षत्रिय घर में पैदा हुए लेकिन वे व्यक्ति अन्तर्मुखी थे और उनकी यात्रा ब्राह्मण की थी। बुद्ध क्षत्रिय के घर में पैदा हुए लेकिन वे व्यक्ति ब्राह्मण थे और उनकी यात्रा ब्राह्मण की थी। इसलिए बुद्ध ने बहुत जगह कहा है कि मुझसे बड़ा ब्राह्मण और कोई भी नहीं है। लेकिन बुद्ध ने ब्राह्मणों की परिभाषा कुछ और की। **बुद्ध ने कहा कि जो ब्रह्म को जाने वह ब्राह्मण है।** बुद्ध और महावीर क्षत्रिय हैं और ब्राह्मण उनका व्यक्तित्व है। जन्म से वे क्षत्रिय हैं। महावीर, जैसा क्षत्रिय ब्राह्मण की यात्रा पर गया, इण्टरोवर्शन की, अन्तर्-यात्रा पर गया, सारे बाहर के जगत को छोड़कर भीतर ध्यान और समाधि में डूबा। स्वभावतः महावीर के आस-पास क्षत्रियों के ही सम्बन्ध थे। मित्र थे, प्रियजन थे वे भी महावीर से प्रभावित हुए, महावीर के पीछे यात्रा पर गये। यह बड़े मजे की बात है कि महावीर के पीछे जो क्षत्रिय यात्रा पर गये अन्त में वैश्य होकर रह गये। सारा जैन समाज वैश्यों का हो गया। असल में महावीर से प्रभावित होकर जो क्षत्रिय महावीर के पीछे गया था वह इन्ट्रोवर्ट (अन्तर्मुखी) नहीं था। वह ब्राह्मण हो नहीं सकता था। था तो वह क्षत्रिय, महा-वीर से प्रभावित होकर पीछे चला गया था। ब्राह्मण हो नहीं पाया, क्षत्रिय होना मुश्किल हो गया, वैश्य होने का एकमात्र मार्ग रह गया। वह क्षत्रिय होने से नीचे गिरा और वैश्य हो गया।

यह होने ही वाला था। **ब्राह्मण अन्तर्मुखता की श्रेष्ठतम स्थिति है।** लेकिन सभी ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं हैं। अगर ठीक से समझें तो **हम सब पैदा तो होते हैं या शूद्र की तरह या वैश्य की तरह, विकसित हो सकते हैं ब्राह्मण की तरह या क्षत्रिय की तरह।** पैदा तो हम होते हैं नीचे पायदान पर, लेकिन विकसित हो सकते हैं। बीच में तो हम या तो होते हैं शूद्र या होते हैं वैश्य। फिर अगर बीज खिल जाय तो बन सकते हैं क्षत्रिय या बन सकते हैं ब्राह्मण। मेरे देखे जन्म से सारे लोग दो तरह के होते हैं शूद्र और वैश्य। उपलब्धि से, एचीवमेण्ट से दो तरह के हो जाते हैं—ब्राह्मण और क्षत्रिय। जो विकसित नहीं हो पाते हैं वे पिछली दो कोटियों में रह जाते हैं। वर्ण तो दो ही हैं।

अगर सारे लोग विकसित हों तो जगत् में दो ही वर्ण होंगे, अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। लेकिन जो विकसित नहीं हो पाते वे भी दो वर्ण निर्मित कर जाते हैं। इसलिए चार वर्ण निर्मित हुए, दो जो विकसित हो जाते हैं दो जो विकसित नहीं हो पाते और पीछे छूट जाते हैं। क्षत्रिय की आकांक्षा शक्ति की आकांक्षा है, ब्राह्मण की आकांक्षा सांख्य की आकांक्षा है। क्षत्रिय की आकांक्षा शक्ति की है और अगर क्षत्रिय न हो पाये कोई तो वैश्य रह जाय।

बहुत भयभीत, डरा हुआ, कायर व्यक्तित्व होता है वैश्य का—लेकिन बीज उसके पास क्षत्रिय के हैं इसलिए शक्ति की आकांक्षा भी नहीं छूटती। लेकिन क्षत्रिय होकर शक्ति को पा भी नहीं सकता। इसलिए वैश्य फिर धन के द्वारा शक्ति को खोजता है। वह धन के द्वारा शक्ति को निर्मित करने की कोशिश करता है। लड़ तो नहीं सकता, युद्ध के मैदान पर नहीं हो सकता, हाथ में तलवार तो नहीं ले सकता। लेकिन तिजोरियाँ भरी जा सकती हैं, तलवारें खरीदी जा सकती

हैं। इसलिए इण्डाइरेक्टली, (परोक्ष में) धन की आकांक्षा शक्ति की आकांक्षा है—परोक्ष—पीछे के रास्ते से, भयभीत रास्ते से।

ब्राह्मण होने की आकांक्षा शूद्र में भी है, होगी ही। बीज उसके भीतर है अन्तर्मुखता का। अगर वह विकसित हो तो वह पूर्ण अन्तर्मुखी यात्रा पर निकल जायगा। अगर विकसित न हो तो सिर्फ आलस्य में खड़ा रह जायगा। बहिर्मुखी हो न पायेगा, अन्तर्मुखी होगा नहीं। तब बीच में खड़ा रह जायगा। आलस्य, तमस, प्रमाद उसकी जिन्दगी हो जायगी। बाहर की यात्रा पर जायेगा नहीं, भीतर की यात्रा पर जा सकता था, जा नहीं रहा है। यात्रा ठहर जायेगी। दोनों यात्राएँ ठहर जायेंगी।

शूद्र का अर्थ है प्रमादी। शूद्र का अर्थ है सोया हुआ। शूद्र का अर्थ है आलस्य, तमस से घिरा हुआ। शूद्र का अर्थ है जो कुछ भी नहीं कर रहा है। न बाहर जा रहा है, न भीतर जा रहा है। जो प्रमाद में, अँधेरे में सोया रह गया है। यह जो मैं कह रहा हूँ यह ध्यान में रख लेंगे, यह किसी शूद्र, किसी ब्राह्मण, किसी वैश्य, किसी क्षत्रिय के लिए नहीं कह रहा हूँ। यह मनोवैज्ञानिक टाइप के लिए कह रहा हूँ।

इसलिए शूद्र निरन्तर ही ब्राह्मण के विपरीत अनुभव करेगा और अगर आज सारी दुनिया में और विशेष कर इस मुल्क में जिसने कि यह टाइप की मनोवैज्ञानिक व्यवस्था सबसे पहले खोजी थी—शूद्र ने ब्राह्मण के खिलाफ बगावत कर दी। बगावत करने का एक ढंग और भी था। वह ढंग यह था कि शूद्र ब्राह्मण होने की यात्रा पर निकल जाय। वह नहीं हो सका। और अब राममोहन राय, गांधी और उन सारे लोगों के आधार पर जिनकी कोई मनोवैज्ञानिक समझ नहीं है, शूद्र एक दूसरी यात्रा पर निकला है। वह कह रहा है कि **अब हम तो ब्राह्मण नहीं बन सकते, लेकिन, अब हम ब्राह्मण को भी शूद्र बनाकर रहेंगे।**

शूद्र ब्राह्मण बने, यह हितकर है। वह यात्रा आन्तरिक यात्रा है। लेकिन, यदि शूद्र सिर्फ ब्राह्मण को खींचकर शूद्र बनाने की चेष्टा में लग जाय तो वह सिर्फ आत्मघाती बात है। शूद्र आतुर है कि ब्राह्मण और उसके बीच का फासला टूट जाय। फासला टूटना चाहिए। लेकिन वह एक मनोवैज्ञानिक साधना है। वह एक सामाजिक व्यवस्था मात्र नहीं है।

और यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि उसी तरह ब्राह्मण भी बहुत बेचैन है कि कहीं फासला न टूट जाय। पुरी के शंकराचार्य बहुत बेचैन हैं कि कहीं ब्राह्मण और शूद्र का फासला न टूट जाय। यह डर भी इसी बात की सूचना है कि अब ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है, अन्यथा फासला टूटने से वह डरनेवाला नहीं

था। फासला टूट नहीं सकता, शूद्र बगल में बैठ जाय ब्राह्मण के इससे फासला नहीं टूटता, शूद्र ब्राह्मण की थाली में बैठकर खा ले इससे फासला नहीं टूटता। अगर ब्राह्मण असली है तो फासला ऐसे टूटता है! हाँ, अगर ब्राह्मण खुद ही शूद्र है तो फासला तत्काल टूट जाता है।

ब्राह्मण डरा हुआ है क्योंकि वह शूद्र हो चुका है करीब करीब। और शूद्र आतुर है कि ब्राह्मण को शूद्र बनाकर रहें। यह जो मैं कह रहा हूँ वह इसलिए कह रहा हूँ ताकि यह ख्याल में आ सके कि **भारत की वर्ण की धारणा के पीछे बड़े मनोवैज्ञानिक ख्याल थे।** मनोवैज्ञानिक ख्याल यह था कि प्रत्येक व्यक्ति ठीक से पहचान ले कि उसका टाइप क्या है? ताकि उसकी आगे की जीवन यात्रा व्यर्थ में यहाँ वहाँ न भटक जाय। वह यहाँ वहाँ न डोले। वह यह समझ ले कि अन्तर्मुखी है कि बहिर्मुखी है और उस यात्रा पर चुपचाप निकल जाय। एक क्षण भी खोने के योग्य नहीं है।

और जीवन का अवसर एक बार खोया जाय तो न मालूम कितने जन्मों के लिए खो जाता है। व्यक्तित्व ठीक से पहचान कर साधना में उतरें, यह जरूरी है। इसलिए मैंने कहा, अगर आप बहिर्मुखी हैं तो या तो आप वैश्य हो सकते हैं या शूद्र हो सकते हैं या ब्राह्मण हो सकते हैं। यह पोलैरिटीज, ध्रुवताएँ हैं। लेकिन शूद्र होना तो प्रकृति से हो जाता है। ब्राह्मण होना उपलब्धि है। वैश्य होना प्रकृति से हो जाता है, क्षत्रिय होना उपलब्धि है।

प्रश्न : दूसरी बात कल आपने बतायी कि अन्तर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) व्यक्ति ज्ञान से शून्यत्व को अर्थात् निर्वाण को प्राप्त होता है, इसी तरह बहुर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) व्यक्ति साधना से पूर्णत्व अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है। तो फिर गीता के द्वितीय अध्याय में अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है—ब्रह्म निर्वाण-मृच्छति क्या यह ब्रह्म और निर्वाण दोनों का समन्वय है?

आचार्य श्री : समन्वय की जरूरत सत्यों को कभी नहीं होती, सिर्फ असत्यों को होती है। सत्य समन्वित ही है। 'ब्रह्म निर्वाण'—ऐसे शब्द के प्रयोग का एक ही मतलब होता है कि कुछ लोग जिसे ब्रह्म कहते हैं, कुछ लोग उसी को निर्वाण कहते हैं। **जो शून्य से चलते हैं, वे निर्वाण कहते हैं, जो पूर्ण से चलते हैं, वे ब्रह्म कहते हैं।** लेकिन जिस अनुभूति के लिए यह शब्द प्रयोग किये जा रहे हैं वे एक ही हैं। ब्रह्म-निर्वाण ब्रह्म की अनुभूति और निर्वाण की अनुभूतियों के बीच समन्वय नहीं है। क्योंकि समन्वय के लिए दो का होना जरूरी है। **'ब्रह्म निर्वाण' एक ही अनुभूति के लिए दिये गये दो नामों का इकट्ठा उच्चार है।** फिर भी इस बात को बताने के लिए कि कुछ लोग उसे निर्वाण कहते हैं और कुछ लोग उसे ब्रह्म कहते हैं। लेकिन वह जो है, वह एक ही है।

जो लोग विधायक, पॉजीटिव हैं वे उसे ब्रह्म कहते हैं, जो लोग निगेटिव, नकारात्मक हैं वे उसे निर्वाण कहते हैं। इसलिए कृष्ण ब्रह्म निर्वाण दोनों का एक साथ प्रयोग कर रहे हैं, समन्वय के लिए नहीं, सिर्फ इस बात की सूचना के लिए कि सत्य एक ही है। जिसे जानने वाले बहुत तरह से कहते हैं और बड़े से बड़े जो भेद हो सकते हैं उनके कहने के, वे दो हो सकते हैं। या तो वे कह दें कि वह शून्य है या तो वे कह दें कि पूर्ण है। यह अपनी रुचि और व्यक्तित्व की बात है। यह अपने देखने के ढंग की बात है। और हम जब भी कुछ कहते हैं तो हम उस सम्बन्ध में कम कहते हैं—जिस सम्बन्ध में कह रहे हैं, अपने सम्बन्ध में ज्यादा कहते हैं।

जब भी हम कुछ कहते हैं तो वह खबर हमारे बाबत होती है कि हम किस तरह के व्यक्ति हैं। हमें जो दिखायी पड़ता है वह गेस्टाल्ट है। उसमें हम भी जुड़ जाते हैं। अब जैसे उदाहरण के लिए कहीं एक गिलास में आधा पानी भरा रखा हो और एक व्यक्ति कमरे से बाहर आकर कहे कि गिलास आधा खाली है और दूसरा आदमी बाहर आकर कहे कि गिलास आधा भरा है। इन दोनों ने दो चीजें नहीं देखीं। इन दोनों ने दो चीजें कहीं भी नहीं। लेकिन फिर भी इन दो व्यक्तियों के देखने का ढंग बिल्कुल प्रतिकूल है।

एक ने देखा कि आधा खाली है। खाली पर उसकी नजर गयी है, भरे पर उसकी नजर नहीं गयी। आथेंटिकली (प्रामाणिकता से) खाली उसे दिखायी पड़ा है और भरा अलग छूट रहा है। खाली बीच में है, सेन्टर में। भरा परिधि पर रहा है। खाली ने उसको पकड़ा है। भरे ने उसको नहीं पकड़ा है। दूसरा व्यक्ति कहता है कि आधा भरा है, भरा उसके बीच में है ध्यान के, खाली बाहर परिधि पर। खाली उसे दिखायी नहीं पड़ा, दिखायी उसे भरा पड़ा है। खाली ने सिर्फ भरे की सीमा बनायी है। भरा है असली, खाली पड़ोस में है—सिर्फ सीमान्त। वह कह रहा है, आधा भरा है। अगर कोई गिलास से पूछे कि गिलास आधा भरा है या आधा खाली है तो गिलास कुछ भी नहीं कहेगा। क्योंकि **गिलास कहेगा कि यह विवाद पागलपन का है। मैं दोनों हूँ। मैं एक साथ** दोनों हूँ, लेकिन यह दो भी इसलिए कहना पड़ रहा है क्योंकि दो लोगों ने मुझे देखा है। असल में **मैं तो जो हूँ, हूँ।** यहाँ तक पानी है और यहाँ से पानी नहीं है। बीच तक पानी है। और बीच तक पानी नहीं है। एक रेखा है जहाँ मेरा आधा खालीपन और आधा भरापन मिलते हैं।

दो आदमियों ने दो तरह से देखा। ये दो आदमी दो तरह से कहते हैं और अगर ये दोनों आदमी बाजार में चले जायँ और ऐसे लोगों के बीच में पहुँच जायँ जिन्होंने कभी आधी भरी और आधी खाली चीज न देखी हो तो दो

सम्प्रदाय बन जायेंगे उस बाजार में। एक आधी खाली वालों का सम्प्रदाय होगा और दूसरा आधी भरे वालों का सम्प्रदाय होगा और उनमें भारी विवाद चलेगा और उनके पंडित बड़े तर्क करेंगे और विश्वविजय की यात्राएँ निकालेंगे और झंडे फहरायेंगे और शास्त्रों से सिद्ध करेंगे कि सत्य बात क्या है।

दूसरा असत्य है—ठीक भी है। जिनको पता न हो उनके लिए दोनों वक्तव्य एकदम विरोधार्थी (कान्ट्राडिक्टरी) हैं। गिलास आधा खाली है तो खाली पर ध्यान जाता है। गिलास आधा भरा है तो भरा है, इस पर ध्यान जाता है। एक कहता है, खाली है, एक कहता है, भरा है और जिन्होंने देखा नहीं, जिन्हें कुछ पता नहीं वे कहेंगे उससे ज्यादा विरोधी वक्तव्य क्या हो सकते हैं। यह दोनों अलग-अलग बातें हैं। दोनों में से कोई एक ही सही हो सकता है। इसलिए निर्णय करें कि सही कौन है ? यह निर्णय हजारों साल तक चलेगा और कभी नहीं हो पायेगा। क्योंकि वहाँ सिर्फ एक ही गिलास है जो आधा खाली है और आधा भरा है। दो आदमियों ने देखा है बस, वक्तव्य इसीलिए भिन्न हो गये हैं।

ब्रह्म निर्वाण दो बातों का समन्वय नहीं है। एक सत्य के लिए उपयोग किये गये दो शब्दों का समवेत प्रयोग है। समन्वय सिर्फ असत्यों में करना पड़ता है। **सत्य में समन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि सत्य एक है।** दूसरा है नहीं जिससे समन्वय करना पड़े। इसलिए जितने लोग समन्वय की बातें करते हैं उन्हें सत्य का कोई भी पता नहीं। सत्य को समन्वय की कोई भी जरूरत नहीं है। सत्य है ही एक। किससे समन्वय करना, असत्य से ! हाँ असत्य से करना हो तो हो सकता है। लेकिन सत्य से असत्य का समन्वय कैसे होगा ? कोई उपाय नहीं है और दो सत्य नहीं है कि जिनका समन्वय करना हो। हाँ एक ही सत्य को बहुत लोगों ने देखा है। बहुत शब्दों में कहा है। भेद शब्दों के हैं सत्यों के नहीं।

प्रश्न : आचार्य श्री कल आपने कहा कि कर्ता तो प्रभु है, मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है। तो कोई व्यक्ति जब दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त होता है तो क्या उस कर्म का कर्ता और प्रेरक भी प्रभु है ? और कर्तापन के अभाव से बुरे कर्म का अभिनय करना कहाँ तक उचित है ?

आचार्य श्री : अच्छे और बुरे का फासला आदमी का है, परमात्मा का नहीं। और जो अच्छे-बुरे में फर्क करता है उससे, कभी न कभी, बुरा होगा। वह बुरे से बच नहीं सकता है। सिर्फ बुरे से वही बच सकता है जिसने सभी परमात्मा पर छोड़ दिया हो। लेकिन, हम कहेंगे कि एक आदमी चोरी कर सकता है और कह सकता है कि मैं तो निमित्त मात्र हूँ, चोरी मैं नहीं करता हूँ, परमात्मा

करता है। कहें, अड़चन अभी नहीं, अड़चन तो जब घर के लोग पकड़ कर उसे मारने लगते हैं तब पता चलेगा। क्योंकि अगर वह तब भी यही कहे कि परमात्मा ही मार रहा है और ये घर के लोग कर्ता नहीं है निमित्त मात्र हैं तब वह ठीक मार्ग पर है। और ध्यान रहे जो आदमी, कोई दूसरा उसे मार रहा हो और फिर भी जानता हो कि परमात्मा ही मार रहा है, तो निमित्त मात्र हैं दूसरे। ऐसा आदमी चोरी करने जायेगा इसकी संभावना नहीं है। यह बिलकुल असंभव है।

हम बुरा करते ही अहंकार से भरकर हैं। **बिना अहंकार के बुरा हम कर नहीं सकते,** और जिस क्षण हम परमात्मा को सब कर्तृत्व दे देते हैं, अहंकार छूट जाता है, बुरे को करने की बुनियादी आधारशिला गिर जाती है। बुरा करियेगा कैसे? कभी आपने ख्याल किया है कि बुरे कर्म को करके तो कोई भी अपने को कर्ता नहीं बताना चाहता है। कभी आपने यह ख्याल किया है कि एक आदमी चोरी भी करता है तो वह कहता है कि मैंने नहीं की है। हम सिद्ध कर दें यह बात अलग है। लेकिन अपनी तरफ से वह इन्कार ही करता चला जाता है कि मैंने नहीं की है। बुरे का कर्ता तो कोई भी होने को राजी नहीं है और मजा यह है कि बुरा बिना कर्ता के होता नहीं है।

उल्टी बात भी ख्याल में ले लें कि कोई आदमी दो पैसा दान दे तो दो लाख जैसे दान दिया हो, ऐसी खबरें उड़ाना चाहता है। न भी खबर उड़ा पाये लेकिन दो पैसा दान दे तो भी दो लाख दान दिया इतनी अकड़ से चलना तो चाहता ही है। भिखारी भी जानते हैं कि अगर आप अकेले मिल जायँ रास्ते पर तो उनको भरोसा कम होता कि दान मिलेगा। चार आदमी आपके साथ हों तब उनका भरोसा बढ़ जाता है, तब वे आपका पैर पकड़ लेंगे। अकेले में आप पर भरोसा नहीं होता, चार आदमियों की मौजूदगी पर भरोसा होता है। चार आदमियों के सामने यह आदमी इतनी दीनता प्रकट न कर पायेगा कि कह दे कि नहीं देते। इसलिए भिखारी को अकेला कोई मिल जाये तो काम नहीं बनता उसे भीड़ में पकड़ना पड़ता है। अच्छा काम आदमी ने न भी किया हो तो भी वह घोषणा करना चाहता है कि मैं करता हूँ और मजा यह है कि **जब तक कर्ता होता है तब तक अच्छा काम होता नहीं।** अब इस मिस्ट्री को, इस रहस्य को ठीक से समझ लेना चाहिए।

कर्ता की, अहंकार की मौजूदगी ही जीवन में पाप का जन्म है। अहंकार की अनुपस्थिति, गैर मौजूदगी ही जीवन में पुण्य की सुगन्ध का फैलाव है। इसलिए अगर कोई कर्ता रहकर पुण्य भी करे तो पाप हो जाता है।

दूसरी बात भी नहीं हो सकती है कि कर्ता मिट जाये और कोई पाप करे, यह

भी नहीं हो सकता। हमने जो फर्क किया है पाप और पुण्य का, अच्छे और बुरे का, वह उन लोगों ने किया है जिनके पास कर्ता मौजूद है, जिनका अहंकार मौजूद है। और इस अहंकार के मौजूद रहते हमें ऐसा इन्तजाम करना पड़ा कि हम बुरे आदमी को बहुत बुरा कहते हैं, ताकि अहंकार को चोट लगे। हम अहंकार से ही बुराई को रोकने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए बुराई रुक नहीं पायी! सिर्फ अहंकार बढ़ा है। सारी मॉरेलिटी, सारा नीति-शास्त्र, क्या करता है? वह इतना ही करता है कि आपके अहंकार को ही उपयोग में लाता है बुराई से रोकने के लिए।

बाप अपने बच्चे से कहता है कि ऐसा करोगे तो गाँव के लोग क्या कहेंगे? बात गलत है, या सही है यह सवाल नहीं है बड़ा। बड़ा सवाल यह है कि गाँव के लोग क्या कहेंगे। कोई आदमी किसी के घर में चोरी करने जाता है तो यह नहीं सोचता है कि चोरी बुरी है, वरन् यह सोचता है कि पकड़ा तो नहीं जाऊँगा। अगर उसको विश्वास दिला दिया जाये कि तुम नहीं पकड़े जा सकोगे, तो कितने लोग हैं जो अचोर रह पायेंगे। पुलिसवाला चौराहे पर न हो २४ घंटे के लिए, अदालत २४ घंटे के लिए छुट्टी पर चली जाये, कानून २४ घंटे के लिए स्थगित कर दिया जाये तो कितने भले लोग भले रह जायेंगे? और २४ घंटे के लिए यह भी तय कर लिया जाये कि जो बुरा करेगा उसे सम्मान मिलेगा और जो अच्छा करेगा उसे अपमान मिलेगा, तब तो और मुश्किल हो जायेगा।

नहीं, हम बुरा करने से नहीं रुकेंगे। बुरे से रोकने के लिए भी हमने अहंकार का ही उपयोग किया है कि लोग क्या कहेंगे? इज्जत का क्या होगा? कुल का क्या होगा? वंश का क्या होगा? प्रतिष्ठा, सम्मान, आदर, इसका क्या होगा? इससे हम रोके हुए हैं आदमी को। लेकिन जिस चीज का हम उपयोग कर रहे हैं, रोकने के लिए, वही पाप की जड़ है। हम जहर सींच कर ही बुराई को मिटाने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए हजारों साल हो गये, बुराई मिटती नहीं है। सिर्फ जहर सिंचता है और बुराई नये रास्ते से निकलकर प्रकट होती है।

अच्छे आदमी से भी हम क्या करवाते हैं? उसके भी अहंकार को बल देते हैं। हम कहते हैं कि तुम्हारे नाम की तख्ती लगा देंगे, मंदिर पर, संगमरमर पर तुम्हारा नाम खोद देंगे। हम तुम्हारे अहंकार के लिए सील मोहर दे देंगे। अच्छा आदमी भी मंदिर बनाने के लिए मंदिर नहीं बनाता, मंदिर में नाम का पत्थर लगाने के लिए मंदिर बनाता है। **अच्छे काम के लिए भी हमें जहर से ही उसे सींचना पड़ता है इसलिए सब मंदिर, मस्जिद अगर जहरीले हो गये हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। उनकी जड़ में जहर है, वहाँ अहंकार खड़ा हुआ है।** अच्छाई करवानी हो तो भी अहंकार, बुराई रोकनी हो तो भी अहंकार।

कृष्ण कुछ और ही सूत्र कह रहे हैं। वह बहुत अद्भुत है। एक अर्थ में वह धर्म का बुनियादी सूत्र है। **वह यह कह रहे हैं कि नीति से काम नहीं चलेगा अर्जुन, क्योंकि नीति तो अहंकार पर ही खड़ी होती है।** धर्म से काम चलेगा क्योंकि धर्म कहता है छोड़ो तुम 'मैं' को। परमात्मा को करने दो जो कर रहा है। तुम निमित्त मात्र हो जाओ। हमें डर लगता है कि अगर हम निमित्त मात्र हैं, कर्ता नहीं हैं तो अब भी चोरी पर निकल जायेंगे।

मैंने सुना है कि एक दफ्तर में एक मैनेजर को एक बुद्धिमानी की बात सूझी। वैसे आमतौर से मैनेजर को बुद्धिमानी की बात नहीं सूझती है। या ऐसा हो सकता है कि मैनेजर होते-होते आदमी को बुद्धि खो देनी पड़ती है। या ऐसा हो सकता है कि मैनेजर तक पहुँचने के लिए बुद्धि बिलकुल गैर जरूरी तत्त्व है, यह बाधा है। लेकिन, एक मैनेजर को बुद्धिमानी सूझी और उसने अपने दफ्तर में एक तख्ती लगा दी। लोग काम नहीं करते थे, टालते थे, 'पोस्टपोन' (स्थगित) करते थे तो उसने एक तख़्ती में किसी संत का एक वचन लिख दिया : "काल करे सो आज कर, आज करे तो अब।" जो कल करना चाहता था वह आज कर और जो आज करना चाहता था वह अभी कर, क्योंकि समय का कोई भरोसा नहीं कि कल आयेगा भी कि नहीं आयेगा। सात दिन के बाद उसके मित्रों ने पूछा—तख्ती का क्या परिणाम हुआ ? तो उसने कहा कि बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ। मेरा सेक्रेटरी टाइपिस्ट को लेकर भाग गया। अकाउण्टेण्ट सारा पैसा लेकर नदारत हो गया। सब गड़बड़ हो गयी। पत्नी का सात दिन से कोई पता नहीं चल रहा है, चपरासी के साथ भाग गयी। दफ्तर में अकेला रह गया हूँ। तो उन लोगों को जो-जो उन्हें कल करना था उसे आज ही कर लिया, जो आज करना था वह अभी कर लिया।

हमें भी ऐसा लगता है कि अगर हम परमात्मा पर सब छोड़ दें फिर तो छूट मिल जायेगी, फिर तो जो हमें करना है हम कर लेंगे। अगर उसे करने के लिए ही परमात्मा को कर्ता बना रहे हैं तो जरूर ऐसा हो जायेगा। लेकिन जो कुछ करने के लिए निमित्त बन रहा है वह निमित्त ही नहीं बन रहा है और जो कुछ करने के लिए परमात्मा को कर्ता बना रहा है वह परमात्मा को कर्ता बना ही नहीं रहा। **योजना तो उसकी अपनी ही है, अहंकार तो उसका अपना ही है, परमात्मा का भी वह शोषण करना चाह रहा है।**

कृष्ण उसके लिए नहीं कह रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं कि **अगर तुम परमात्मा में अपने को छोड़ दो तो** छोड़ने के साथ ही अपनी **योजनाएँ** भी छूट जाती हैं। छोड़ने के साथ ही अपनी **कामनाएँ** भी छूट जाती हैं, छोड़ने के साथ ही अपनी **वासनाएँ भी छूट जाती हैं।** छोड़ने के साथ ही अपना भविष्य भी छूट जाता है, छोड़ने के साथ ही हम ही छूट जाते हैं। **फिर हम बचते ही नहीं।** फिर जो हो, हो। लेकिन हमें डर लगेगा क्योंकि जो-जो होने की, करने की इच्छा है वह फौरन दिखायी पड़ेगी। तब हम कृष्ण को नहीं समझ पा रहे हैं। तब कृष्ण को समझना मुश्किल होगा।

स्वयं को समर्पित करने का साहस दुर्लभ है और स्वयं को समर्पित करना बड़े-से-बड़ा साहस है। उससे बड़ा कोई एडवेन्चर नहीं, उससे बड़ा कोई दुस्साहस नहीं। स्वयं को छोड़ना परमात्मा के चरणों में, आसान बात नहीं है। और जो आदमी स्वयं को छोड़ सकता है वह चोरी नहीं छोड़ पायेगा यह सोचना भी मुश्किल है। जो स्वयं को ही छोड़ सकता है वह चोरी किसके लिए करेगा ? जो स्वयं को छोड़ सकता है वह हत्या किसके लिए करेगा ? जो स्वयं को छोड़ सकता है वह बेईमानी किसके लिए करेगा ? उसका कोई उपाय नहीं है। स्वयं को छोड़ते ही सब छूट जाता है। फिर जो भी हो, कृष्ण कहते हैं, वह परमात्मा का है। तू निमित्त भर है। निमित्त भर जो है उसे योजना नहीं बनानी है, निमित्त भर जो है उसे कामना नहीं करनी है। निमित्त की क्या कामनाएँ ? निमित्त की क्या वासनाएँ ?

कृष्ण का संदेश धार्मिक है, नैतिक नहीं। और नैतिक संदेश भी कोई संदेश होता है ! काम चलाऊ, कन्वीनियन्ट होता है। अनीति को किसी तरह रोकने का उपाय हम करते रहते हैं। रुकती नहीं, किसी तरह इंतजाम करते रहते हैं, काम चलाते हैं।

धर्म का संदेश काम चलाऊ नहीं है। **धर्म का संदेश तो जीवन की आमूल क्रान्ति का संदेश है।** जो स्वयं को सब भाँति छोड़ देता है उसके जीवन से सब कुछ गिर जाता है जो कल तक था। बुरा, अच्छा दोनों गिर जाते हैं। फिर तो परमात्मा ही शेष रह जाता है। फिर जो भी हो उसमें अन्तर नहीं पड़ता, वह सभी कुछ परमात्मा के लिए समर्पित है। २४ घंटे के लिए भी कभी प्रयोग करके देखें फिर वासना को उठाना मुश्किल होगा। क्योंकि **वासना को केवल कर्ता ही उठा सकता है। निमित्त वासना कैसे उठायेगा ?** फिर यह सोचना मुश्किल होगा कि मैं करोड़ों रुपया इकट्ठा कर लूँ। यह करोड़ों रुपया इकट्ठा करने की वासना निमित्त मात्र व्यक्ति में नहीं उठ सकती। **सारी मूल वासना का आधार व मूल स्रोत अहंकार है।**

प्रश्न : आचार्यश्री, आपने कहा कि कई बार किसी बात का संकल्प करना कमजोर संकल्प का सूचक है तो आपके ध्यान में संकल्प तीन बार क्यों किया जाता है ? और यह भी बतायें कि ध्यान साधना से ज्ञान होगा कि ध्यान साधना स्वयं में एक कर्म है ?

आचार्यश्री : ध्यान के प्रयोग में तीन बार संकल्प किया जाता है, वह भी कम पड़ता है, तीन सौ बार किया जाय तो पूरा पड़े! क्योंकि आप अर्जुन नहीं हैं। आपको तीन सौ बार कहने पर भी एक बार सुनायी पड़ जाय तो बहुत है। तीन बार इसीलिए कहा जाता है कि शायद एकाध बार सुनायी पड़ जाय। बहरों के बीच मेहनत अलग तरह की होती है। कृष्ण भीड़ को नहीं बता रहे हैं और मैं ध्यान करवा रहा हूँ भीड़ को। कृष्ण एक आदमी से बात करते हैं। सीधे, आमने-सामने। जब मैं हजारों लोगों से कुछ बात कर रहा हूँ तो आमने-सामने कोई भी नहीं है। दिखायी पड़ते हैं आमने-सामने हैं, लेकिन है कोई भी नहीं। तीन सौ बार भी कहा जाय तो थोड़ा पड़ेगा। आशा यही है कि तीन सौ बार कहने में शायद एकाध बार आपको सुनायी पड़ जाय। काम तो एक ही बार में हो जाता है, लेकिन वह एक बार सुनायी पड़ना चाहिए न?

और पूछ रहे हैं कि ध्यान से क्या फलित होगा? अगर बहिर्मुखी व्यक्तित्व है तो ध्यान से वह ब्रह्म की यात्रा पर निकल जाता है, अगर अंतर्मुखी व्यक्तित्व है तो ध्यान से निर्वाण की यात्रा पर निकल जाता है। ध्यान दोनों यात्राओं पर वाहन का काम करता है। इसलिए ध्यान किसी व्यक्ति विशेष के टाईप से संबंधित नहीं है। ध्यान तो ऐसा है जैसे कि आप ट्रेन पर पश्चिम जाना चाहें तो पश्चिम चले जायें और पूर्व जाना चाहें तो पूर्व चले जायें। ट्रेन नहीं कहती कि कहाँ जायें। ट्रेन कहीं भी जा सकती है।

ध्यान सिर्फ एक वाहन है। बहिर्मुखी व्यक्ति अगर ध्यान में उतरे तो वह ब्रह्म की यात्रा पर, बहिर्यात्रा पर, निकल जायगा। 'कास्मिक जरनी' पर निकल जायेगा। जहाँ सारा अखण्ड जगत उसे अपना ही स्वरूप मालूम होने लगेगा। अगर अन्तर्मुखी व्यक्ति ध्यान के वाहन पर सवार हो तो अन्तर-यात्रा पर निकल जायगा, शून्य में और शून्य में और महाशून्य में। जहाँ सब बबूले फूट कर मिट जाते हैं और महासागर, अस्तित्व का, शून्य का ही शेष रह जाता है। ध्यान दोनों के काम आ सकता है। ध्यान का टाइप से सम्बन्ध नहीं है। ध्यान का सम्बन्ध यात्रा के वाहन से है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

अर्थ : "इसलिए जो मूढ़ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोक कर इन्द्रियों के भोगों को मन से चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी, अर्थात् दम्भी कहा जाता है।"

आचार्यश्री : यह अद्भुत वचन है। कृष्ण कह रहे हैं कि जो मूढ़ व्यक्ति, मूढ़ अर्थात्—नासमझ, अज्ञानी, इन्द्रियों को हठ पूर्वक रोककर मनमें काम के

चिन्तन को चलाये चला जाता है, वह दम्भ में, पाखंड में, अहंकार में पतित होता है। ऐसा व्यक्ति मूढ़ है जो इन्द्रियों को दमन करता है, सप्रेस करता है।

काश! फ्रायड को यह वचन गीता का पढ़ने को मिल जाता तो फ्रायड के मन में धर्म का जो विरोध था वह न रहता। लेकिन फ्रायड को केवल ईसाई दमनवादी सन्तों के वचन पढ़ने को मिले। उसे केवल उन्हीं धार्मिक लोगों की खबर मिली, जिन्होंने जननेन्द्रियाँ काट दीं ताकि काम वासना से मुक्ति हो जाय। फ्रायड को उन सूरदासों की खबर मिली जिन्होंने आँखें फोड़ दी ताकि कोई सौन्दर्य आकर्षित न कर सके। उन विक्षिप्त, न्यूरोटिक लोगों की खबर मिली जिन्होंने अपने शरीर को कोड़े मारे, लहू बहाया ताकि शरीर कोई माँग न करे। जो रात रात सोये नहीं कि कहीं कोई सपना मन को वासना में न डाल दे। जो भूखे रहे कि कहीं शरीर में शक्ति आये तो इन्द्रियाँ बगावत न कर दें।

स्वभावतः अगर फ्रायड को लगे कि इस तरह का सब धर्म न्यूरोटिक है, पागलपन से भरा है और मनुष्य जाति को विक्षिप्त करने वाला है तो आश्चर्य नहीं। **लेकिन कृष्ण का एक वचन भी फ्रायड के मन की सारी ग्रन्थियों को खोल देता।**

फ्रायड से पाँच हजार साल पहले कृष्ण कह रहे हैं कि मूढ़ है वह व्यक्ति जो अपनी इन्द्रियों को दबाता है। क्योंकि इन्द्रियों के दबाने से मन नहीं दबता—बल्कि इन्द्रियों के दबाने से मन और प्रबल होता है। इसलिए मूढ़ है वह व्यक्ति क्योंकि इन्द्रियों का कोई कसूर ही नहीं, इन्द्रियों का कोई सवाल ही नहीं है।

असली सवाल भीतर छिपे मन का है। वह मन माँग कर रहा है, इन्द्रियाँ तो केवल उस मन के पीछे चलती हैं। वे तो मन की नौकर-चाकर, मन की सेविकाएँ हैं, इससे ज्यादा नहीं हैं। मन कहता है कि सौन्दर्य देखो तो आँखें सौन्दर्य देखती हैं और मन कहता है कि बन्द कर लो आँखें तो आँखें बन्द हो जाती हैं। आँख की अपनी कोई इच्छा है? आँख ने कभी कहा कि मेरी यह इच्छा है? हाथ ने कभी कहा कि छूओ इसे। मन कहता है छूओ तो हाथ छूने चला जाता है। मन कहता है कि मत छूओ तो हाथ ठहर जाता है और रुक जाता है।

इंद्रियों की अपनी कोई इच्छा ही नहीं। लेकिन इन्द्रियों को कितनी गालियाँ दी गयीं है! इन्द्रियों के खिलाफ कितने वक्तव्य दिये गये हैं! और इन्द्रियाँ बिलकुल निष्पाप, निर्दोष और इनोसेन्ट हैं, इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं। कोई इन्द्रिय मनुष्य को किसी काम से नहीं ले जाती, मन ले जाता है। और जब

कोई इन्द्रियों को दबाता है, रोकता है और मन जब इन्द्रियों का सहयोग नहीं पाता है तो पागल होकर भीतर ही उन चीजों की रचना करने लगता है जो उसने बाहर चाही हैं। अगर दिन भर आप भूखे रहे हैं तो रात सपने में आप राजमहल में आमन्त्रित हो जायेंगे। मन ने इन्तजाम किया, मन ने कहा कि ठीक है। मन ने जिस स्त्री, जिस पुरुष के प्रति दिन में अपने को रोका, रात सपने में मन नहीं रोक पाता। खुद फ्रायड ने अपने एक पत्र में लिखा है।

कोई ४५ साल की उम्र में खुद फ्रायड ने अपने एक पत्र में किसी एक मित्र को लिखा है कि आज मैं रास्ते पर चलते वक्त हैरान हुआ। एक सुन्दर स्त्री को देख कर मेरे मन में उसे छूने की इच्छा जगी। फिर मैंने सोचा भी कि मैं कैसा पागल हूँ। इस उम्र में और फ्रायड जैसा आदमी जिसने जिन्दगी भर सेक्स को समझने की शायद मनुष्य जाति के इतिहास में सर्वाधिक कोशिश की है, जानता है सेक्स क्या है, जो जानता है वासना है, उसने लिखा है कि मैंने अपने को रोकना चाहा लेकिन मैं रोकता भी रहा और मैंने बढ़कर भीड़ में उस स्त्री को छू भी लिया, स्पर्श भी कर लिया। आधे मन से रोकता भी रहा और आधे मन से स्पर्श भी कर लिया। पछताता भी रहा, कामना भी करता रहा।

फ्रायड ने लिखा है अब भी मेरे भीतर यह सम्भव है, यह मैंने सोचा न था। मरते वक्त तक भी सम्भव है। मुर्दा भी, अगर थोड़ी बहुत शक्ति बची हो तो, उठकर यही कर सकता है। मुर्दों ने तो कभी नहीं किया, लेकिन मुर्दों के साथ करने वाले लोग मिल गये हैं। क्लियोपेट्रा जब मरी और उसकी लाश दफना दी गयी कब्र में, तो उसकी लाश चोरी चली गयी। सुन्दर स्त्री। १५ दिन बाद उसकी लाश मिली और चिकित्सकों ने कहा कि १५ दिन में हजारों लोगों ने उसकी लाश से सम्भोग किया है। लाशों से भी सम्भोग होता है। अगर लाशें भी उठ आयें तो वे भी कर सकती हैं।

कृष्ण कह रहे हैं कि अगर बाहर से दबा लोगे इन्द्रियों को तो इन्द्रियों का तो कोई कसूर नहीं, इन्द्रियों का कोई हाथ नहीं। इन्द्रियाँ असंगत, (Irrelevant) हैं, उनसे कोई वास्ता ही नहीं। सवाल है मन का। रोक लोगे इन्द्रियों को, न करो भोजन आज, कर लो उपवास। मन दिन भर भोजन किये चला जायेगा। ऐसे मन दो ही बार भोजन कर लेता है दिन में, उपवास के दिन दिन भर करता रहता है। मूढ़ है वह व्यक्ति जो इस मन को समझे बिना केवल इंद्रियों के दबाने में लग जाता है। और उसका परिणाम क्या होगा ? उसका परिणाम होगा कि वह दम्भी हो जायेगा। वह दिखावा करेगा कि देखो मैंने संयम साध लिया, देखो मैं तप को उपलब्ध हुआ, देखो ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। वह बाहर से सब दिखावा करेगा और भीतर बिल्कुल उल्टा और विपरीत चलेगा।

अगर हम तथाकथित, 'सो कॉल्ड' साधुओं के जिनकी ही संख्या बड़ी है, वही हैं निन्यानबे प्रतिशत, अगर उनकी खोपड़ियों को खोल सकें, उनके हृदय के द्वार खोल सकें, तो उनके भीतर से शैतान निकलते हुए दिखायी पड़ेंगे। अगर हम उनके मस्तिष्क से सेल्स को तोड़ सकें और उनसे पूछ सकें कि तुम्हारे भीतर क्या चलता है तो जो चलता है, वह बहुत घबड़ाने वाला है। ठीक विपरीत है जो बाहर दिखायी पड़ता है, उसके ठीक उल्टा भीतर चला जाता है।

कृष्ण उसे मूढ़ता कह रहे हैं क्योंकि **जो भीतर चलता है वही असली है।** जो बाहर चलता है उसका कोई मूल्य नहीं है। धर्म का दिखावे से—एक्सहिबिशन से कोई सम्बन्ध नहीं है। **धर्म का प्रदर्शन से क्या सम्बन्ध है? धर्म का 'होने' से सम्बन्ध है।** हो सकता है बाहर कुछ उल्टा भी दिखायी पड़े तो भी कोई फिक्र नहीं, भीतर ठीक चलना चाहिए। **बाहर भोजन भी चले तो कोई फिकर नहीं, भीतर का उपवास होना चाहिए।** लेकिन होता उल्टा है, बाहर उपवास चलता है, भोजन चलता है। बाहर स्त्री भी पास में बैठी रहे तो कोई हर्ज नहीं, पुरुष भी पास में बैठा रहे तो कोई हर्ज नहीं, **भीतर स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी नहीं होना चाहिए।** लेकिन होता उल्टा है। बाहर आदमी मंदिर में बेठा है, मस्जिद में बैठा है, गुरुद्वारे में बैठा है और भीतर उसके खुद के गुरुद्वारे कोई और बैठे हुए हैं। ये चल रहे हैं।

जिन्दगी को बदलाहट देनी है तो बाहर से नहीं दी जा सकती, वह भीतर से ही दी जा सकती है। और जो आदमी बाहर से देने में पड़ जाता है वह भूल ही जाता है कि असली काम भीतर है। सवाल इन्द्रियों का नहीं, सवाल मन का है, सवाल वृत्ति का है, सवाल वासना का है, सवाल शरीर का जरा भी नहीं है। इसलिए शरीर को कोई कितना ही दबाये और नष्ट करे, मार ही डाले तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। उसकी प्रेतात्मा भटकेगी, उन्हीं वासनाओं में वह नये जन्म लेगा। नये-नये शरीर ग्रहण करेगा, उन्हीं वासनाओं के लिए जिनको छोड़ दिया था पिछले शरीर से। उसकी यात्रा जारी रहेगी। वह अनंत अनंत जन्मों तक वही खोजता रहेगा जो उसका मन खोजना चाहता है।

दम्भ, पाखण्ड, धोखा, किसको दे रहे हैं हम ? दूसरे को ? दूसरे को दिया भी जा सके लेकिन, स्वयं को कैसे देंगे ? और इसलिए प्रत्येक उस व्यक्ति को जो धर्म की दिशा में उत्सुक होता है ठीक से समझ लेना चाहिए कि स्वयं को धोखा तो देने नहीं जा रहा है, सेल्फ डिसेप्शन, आत्मवंचना में तो नहीं पड़ रहा है।

कृष्ण उसी के लिए कह रहे हैं मूढ़। सोचने जैसा है, कृष्ण जैसे आदमी मूढ़ जैसे शब्द का उपयोग करें ! अगर मैं किसी को कह दूँ कि तुम मूढ़ हो तो वह

लड़ने के लिए खड़ा हो जायगा। कृष्ण ने अर्जुन को मूढ़ कहा। एक आगे के सूत्र में तो अर्जुन को महामूढ़ कहा कि तुम तो बिलकुल महामूर्ख हो। फिर भी अर्जुन लड़ने के लिए खड़ा नहीं हो गया। कृष्ण जो कह रहे हैं वह फेक्चुअल (तथ्य-गत) है कन्डेमनेटरी (निन्दात्मक) नहीं है। कृष्ण जो कह रहे हैं मूढ़ शब्द, उसका उपयोग किसी की निन्दा के लिए नहीं है। तथ्य की सूचना के लिए है।

मूढ़ हैं जगत् में। उन्हें मूढ़ ही कहना पड़ेगा। अगर सज्जनता और शिष्टाचार के कारण उन्हें कहा जाये कि हे बुद्धिमानों! तो बड़ा अहित होगा। लेकिन **कृष्ण जैसे हिम्मत के धार्मिक लोग अब नहीं रह गये।** अब तो धार्मिक के पास कोई भी जाय तो उसको मूढ़ नहीं कह सकता। धार्मिक आदमी ही नहीं रहा। जैन फकीर होते हैं जो डंडा पास में रखते हैं, जरा गलत-सलत पूछा तो सिर पर एक डंडा भी लगाते हैं। यहाँ तो किसी से इतना भी कह दो कि गलत पूछ रहे हो तो वह लड़ने को खड़ा हो जायगा। चूँकि कोई पूछने की जिज्ञासा भी नहीं है और सैकड़ों वर्षों से उस हिम्मतवर और धार्मिक आदमी का तिरोधान हो गया है जो तथ्य जैसे थे उनको वैसा कहने की हिम्मत रखता था। आज किसी को मूढ़ कह दो तो वह कहेगा कि अरे! उन्होंने मूढ़ कह दिया। तो वह आदमी ठीक नहीं है जिसने मूढ़ कह दिया।

कृष्ण कह रहे हैं कि मूढ़ हैं वे जो इंद्रियों को दबाते, दमन करते और परिणामतः भीतर जिनका चित्त उन्हीं-उन्हीं वासनाओं में परिभ्रमण करता है, तूफान लेता है, आंधियाँ बन जाता है, ऐसे व्यक्ति दम्भ को, पाखण्ड को, पतित हो जाते हैं। और इस जगत् में **अज्ञान से भी बुरी चीज पाखण्ड है।** इसलिए उन्होंने कहा ऐसे व्यक्ति मिथ्या आचरण में, मिथ्यात्व, फॉलसिटी में गिर जाते हैं। इस शब्द को भी ठीक से समझ लेना उचित है।

मिथ्या किसे कहेंगे? एक तो होता है सत्य, एक होता है असत्य। मिथ्या क्या है? मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं है। मिथ्या का अर्थ है दोनों के बीच में जो है तो असत्य और सत्य जैसा दिखायी पड़ता है। मिथ्या मिडिल टर्म है। ऐसे लोग असत्य में पड़ते हैं, कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि ऐसे लोग मिथ्या में पड़ जाते हैं। मिथ्या का मतलब दिखायी पड़ते हैं बिलकुल ठीक हैं और बिलकुल ठीक होते नहीं। ऐसे धोखे में पड़ जाते हैं। बाहर से दिखायी पड़ते हैं बिलकुल सफेद हैं और भीतर बिलकुल काले होते हैं। अगर बाहर भी काले हों तो वह सत्य होगा और अगर भीतर भी सफेद हों तो वह सत्य होगा। इसको क्या कहें?

यह मिथ्या, इल्यूजरी स्थिति है। हम और तरह की शकल बाहर बना लेते हैं और भीतर कुछ और चलता चला जाता है। इस मिथ्या में जो पड़ता है वह

अज्ञानी से भी गलत जगह पहुँच जाता है। क्योंकि अज्ञान में पीड़ा है। गलत का बोध हो और **मुझे पता हो कि मैं गलत हूँ तो मैं अपने को बदलने में भी लगता हूँ।** मुझे पता हो कि मैं बीमार हूँ तो मैं चिकित्सा का भी इन्तजाम करता हूँ, मैं चिकित्सक को भी खोजता हूँ, मैं निदान भी करवाता हूँ। लेकिन मैं हूँ बीमार और मैं घोषणा करता हूँ कि मैं स्वस्थ हूँ, तब कठिनाई और भी गहरी हो जाती है। अब मैं चिकित्सक को भी नहीं खोजता, अब मैं निदान भी नहीं करवाता, अब मैं डाईग्नोसिस्ट के पास भी नहीं फटकता। अब तो मैं स्वस्थ होने की घोषणा करता चला जाता हूँ और भीतर बीमार होता चला जाता हूँ। भीतर होती है बीमारी, बाहर होता है स्वास्थ्य का दिखावा। तब आदमी सबसे ज्यादा जटिल उलझाव में पड़ जाता है।

मिथ्या मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी जटिलता पैदा कर देती है। तो कृष्ण कहते हैं कि ऐसा आदमी अन्ततः बहुत जटिल, कॉम्पलेक्स हो जाता है। करता कुछ है, होता कुछ। जानता कुछ है, मानता कुछ। दिखलाता कुछ है, देखता कुछ। सब उसका अस्तव्यस्त हो जाता है। वह आदमी अपने ही भीतर दो हिस्सों में कट जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो वैसा आदमी सिज़ोफ्रेलिक, सिजॉयड हो जाता है। दो हिस्से हो जाते हैं और दो तरह जीने लगता है। डबल बाइण्ड। उसके दोनों दायें-बायें पैर उल्टे चलने लगते हैं। उसकी एक आँख इधर और दूसरी आँख उधर देखने लगती है। उसका सब 'इनर एलाइनमेन्ट (आन्तरिक व्यवस्था) टूट जाती है। बायीं आँख इस तरफ देखती है, दायीं आँख उस तरफ देखती है, बायाँ पैर इस तरफ चलता है, दायाँ पैर उस तरफ चलता है। सब उसके भीतर की हारमोनी, उसके भीतर का सामञ्जस्य, तारतम्य, सब टूट जाता है।

ऐसे व्यक्तियों को मिथ्या में गिरा हुआ व्यक्ति कहते हैं जिसका इनर एलाइनमेन्ट, जिसकी भीतरी ट्यूनिंग, जिसके भीतर का सब स्वर संगम अस्तव्यस्त हो जाता है। जिसके भीतर आग जलती है और बाहर से वह कँपकँपी दिखाता है कि मुझे सर्दी लग रही है। जिसके भीतर क्रोध जलता है और ओठों पर मुस्कराहट होती है कि मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। जिसके भीतर वासना होती है और बाहर प्यार होता है कि मैं संन्यासी हूँ। जिसके बाहर-भीतर ऐसा भेद पड़ जाता है, ऐसा व्यक्ति अपने जीवन के अवसर को जिससे एक महा सङ्गीत उपलब्ध हो सकता था उसे गँवा देता है और मिथ्या में गिर जाता है। मिथ्या का मतलब है खण्ड खण्ड चित्त, स्व-विरोध में बँटा हुआ व्यक्तित्व—डिस-इंटीग्रेटेड व्यक्तित्व।

कृष्ण क्यों अर्जुन को ऐसा कह रहे हैं? इसकी चर्चा उठाने की क्या जरूरत है? लेकिन कृष्ण इसे सीधा नहीं कह रहे हैं। वैसा नहीं कह रहे हैं कि अर्जुन,

तू मिथ्या हो गया है, वह ऐसा नहीं कह रहे हैं। कृष्ण बहुत कुशल मनोवैज्ञानिक हैं, जैसा कल मैंने कहा। वे ऐसा नहीं कह रहे हैं कि अर्जुन तू मिथ्या हो गया है। ऐसा कह रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति मूढ़ है, अर्जुन, जो इस भाँति मिथ्या में पड़ जाता है और वे अर्जुन को भलीभाँति जानते हैं। उसका व्यक्तित्व भीतर से एक्स्ट्रोवर्ट है, बहिर्मुखी है। वह क्षत्रिय है। तलवार के अतिरिक्त उसने कुछ जाना नहीं। उसकी आत्मा अगर कभी भी चमकेगी तो तलवार की झलक उसमें निकलने वाली है उसके प्राणों को अगर उघाड़ा जायगा तो उसके प्राणों में युद्ध का स्वर ही बजने वाला है। उसके प्राणों को अगर खोला जायगा तो उसके भीतर से हम एक योद्धा को ही पायेंगे। लेकिन बातें वह पेसीफिस्ट (शांतिवादी) जैसी कर रहा है, बर्ट्रेण्ड रसेल जैसी कर रहा है। आदमी है वह क्षत्रिय और बात कर रहा है बर्ट्रेंड रसेल जैसी। मिथ्या में पड़ रहा है अर्जुन। अगर यह अर्जुन भाग जाय युद्ध छोड़कर तो यह दिक्कत में पड़ेगा। इसको फिर अपनी इंद्रियों को दबाना पड़ेगा। और इसके मन में यही सब उपद्रव चलेगा।

इसलिए कृष्ण बड़े इशारे से सीधा नहीं कह रहे हैं और बहुत बार सीधी कही हुई बात सुनी नहीं जाती। मैंने भी बहुत बार अनुभव किया कोई व्यक्ति सीधा आ जाता है पूछने, साथ में उसके दो मित्र आ जाते हैं तो मैं निरंतर जान कर हैरान हुआ हूँ कि जो व्यक्ति सीधा सवाल पूछता है, वह कम समझ पाता है और वे दो लोग जो साथ में चुप-चाप बैठे रहते हैं, जो पूछने नहीं आते हैं वे ज्यादा समझ कर जाते हैं। क्योंकि जो आदमी सीधा सवाल पूछता है वह बहुत कांशस हो जाता है, बहुत इगो में भर जाता है। उसका सवाल है! इसलिए जब उसे समझाया जा रहा होता है तो वह समझने की कोशिश में कम और नये सवाल के चिन्तन में ज्यादा होता है। जब उससे कहा जा रहा है तब वह उसके खिलाफ और पक्ष-विपक्ष में सोचता हुआ होता है।

वह पूरा का पूरा डूब नहीं पाता। लेकिन दो लोग जो शांति से साथ में बैठे हैं, उनका कोई सवाल नहीं है, वे बाहर हैं। वे चुपचाप मौजूद हैं, वे आब्जर्वर्स (दर्शक) हैं। उनके मन में ज्यादा शीघ्रता से चली जाती है बात।

कृष्ण अर्जुन को सीधा नहीं कह रहे हैं कि तू मिथ्या से पड़ रहा है। क्योंकि हो सकता है कि ऐसा कहने से अहंकार मजबूत होता है और अर्जुन कहे, मिथ्या में? कभी नहीं, मैं और मिथ्या में? आप कैसी बात करते हैं? समझाना फिर मुश्किल होता चला जायेगा। कृष्ण कहते हैं, मिथ्या में पड़ जाता है ऐसा व्यक्ति जो इंद्रियों को दबा लेता है और भीतर जिसका मन रूपान्तरित नहीं होता है। मन जाता है पश्चिम, इंद्रियाँ जाती हैं पूरब। फिर उसके भीतर का सब संगीत टूट जाता है। ऐसा व्यक्ति रुग्ण, डिसीज्ड हो जाता है और करीब-करीब सारे लोग

ऐसे ही हैं। इसलिए जीवन में फिर कोई आनन्द, फिर कोई सुवास, फिर कोई संगीत अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न : आचार्यश्री, पिछले श्लोक में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि क्षणमात्र भी आदमी बिना कर्म किये नहीं रह सकता है और सब लोग प्रकृति के गुणों द्वारा प्रवृत्त हुए कर्म करते हैं तो शरीर व इंद्रियों की प्राकृतिक क्रियाओं को कर्म क्यों कहा गया है? कर्म और क्रिया क्या अलग नहीं हैं? इसे समझाइये।

आचार्यश्री : कर्म और क्रिया गहरे में अलग नहीं है। ऊपर से अलग दिखायी पड़ती हैं। अब जैसे, मैं सो भी जाऊँ तो भी शरीर पचाने का काम करता रहेगा, खून बनाने का काम करता रहेगा। हड्डियाँ निर्मित होती रहेंगी, पुराने सेल्स मरते रहेंगे, नये सेल्स बनते रहेंगे। रात में सोया रहूँगा, क्रिया जारी रहेगी। उसको हम कर्म न कह सकेंगे क्योंकि मैं तो बिलकुल भी नहीं था, अहंकार को तो मौका नहीं था। असल में **जिस क्रिया से हम अहंकार को जोड़ने में सफल हो जाते हैं, उसको कर्म कहने लगते हैं और जिस क्रिया में हम अहंकार को नहीं जोड़ पाते उसको हम क्रिया कहते हैं।** उसको फिर हम कर्म नहीं कहते। लेकिन गहरे में कोई भी क्रिया मात्र क्रिया नहीं है, क्रिया भी कर्म है।

यह क्यों, ऐसा क्यों? क्योंकि रात में जब सो रहा हूँ, या मुझे बेहोश कर दिया गया है, समझ लें कि मुझे मार्फिया दिया गया है, अब मैं बिलकुल बेहोश पड़ा हूँ तो भी खून अपना काम करेगा। हड्डियाँ अपना काम करेंगी। पेट अपना काम करेगा, श्वास चलती रहेगी, फेफड़े अपने काम करेंगे। सब काम जारी रहेगा। मैं तो बिलकुल बेहोश हूँ। तो इसको कैसे कर्म से जोड़ा जा सकता है? इसलिए जोड़ना जरूरी है कि मेरे जीने की आकांक्षा, 'लस्ट फार लिविंग', **जीवेषणा मेरी गहरी-से-गहरी बेहोशी में भी मौजूद है** और मेरी जीवेषणा के कारण ही यह सारी क्रियाएँ चलती हैं। अगर मेरी जीवेषणा छूट जाय तो स्वस्थ शरीर भी इसी वक्त बंद हो जायेगा। अगर मेरे जीने की इच्छा तत्काल छूट जाय तो सारी क्रियाएँ तत्काल बंद हो जायेंगी। गहरे में मेरा ही अचेतन, मेरा ही अनकांशस मेरी क्रियाओं को भी चला रहा है। मैं नहीं चला रहा हूँ। लेकिन चूँकि अचेतन मन में अहंकार का कोई भाव नहीं है, इसलिए मैं उनको कर्म नहीं कहता।

आप रात में सो रहे हैं। गहरी नींद में पड़े हैं। या हम इतने लोग हैं यहाँ। हम सारे यहीं सो जायँ और फिर कोई आदमी जोर से आकर चिल्लाये 'राम' तो हजारों लोगों में कोई भी नहीं सुनेगा। सब सोये रहेंगे। राम भर करवट लेगा और कहेगा कि कौन रात डिस्टर्ब कर रहा है, कौन परेशान कर रहा है? किसने

नाम लिया ? इतने लोग सो रहे हैं किसी ने नहीं सुना। लेकिन जिसका नाम राम था वह चाहे नींद में भी हो, सुन रहा था कि मेरा नाम लिया जा रहा है, मेरा नाम राम है। नींद के गहरे में भी इतना उसे पता है कि मैं राम हूँ। नींद में एक माँ है। तूफान चल रहा हो, बाहर, आँधी बह रही हो, बर्फ पड़ रही हो, वर्षा हो रही हो, बिजली कड़क रही हो, उसे पता नहीं चलता। उसका छोटा-सा बच्चा है। इतनी कड़कती बिजली में गूँजते बादलों के बीच जरा-सा रोता है, करवट लेता है तो वह जाग जाती है। जरूर कोई मन का हिस्सा पहरा दे रहा है। रात के गहरे में भी तूफान को नहीं सुनता लेकिन बच्चे की आवाज सुनायी पड़ जाती है।

जो लोग सम्मोहन की गहरी खोज करते हैं वे कहते हैं कि कितना ही किसी आदमी को सम्मोहित, हिप्नोटाइज कर दिया जाये लेकिन गहरे में उसकी इच्छा के विपरीति उससे काम नहीं करवाया जा सकता है। जैसे एक सती स्त्री को जिसके मन में एक पुरुष के अलावा दूसरे पुरुष का कभी कोई ख्याल नहीं आया, अगर उसे हिप्नोटाइज किया और गहरी बेहोशी में उससे कहें कि नाचो, वह नाचे। उससे कहें, दूध दुहो, वह दूध दुहे। उससे कहें भागो, वह भागे और अगर कहें कि इस पुरुष को आलिंगन करो तो फौरन उस औरत का हिप्नोटिज्म टूट जायेगा। फौरन बेहोशी टूट जायेगी। वह स्त्री खड़ी हो जायेगी और कहेगी कि आप क्या बात कर रहे हैं ? भागती थी, दौड़ती थी, रोती थी, हँसती थी, यह सब करती थी, लेकिन कहा कि इस पुरुष का आलिंगन करो तो आलिंगन नहीं होगा ? सम्मोहन टूट जायेगा। क्यों ? इतने गहरे में भी, इतने अचेतन में भी, उसकी जो गहरी-से-गहरी मनोभावना है, वह मौजूद है। नहीं, यह नहीं हो सकता है।

मनुष्य के भीतर जो भी चल रहा है उसमें हमारा सहारा है। सहारे का मतलब है कि हमारी गहरी आकांक्षा है कि हम जियें, इसलिए नींद में भी जीने का काम चलता है, बेहोशी में भी चलता है।

मैं एक स्त्री को देखने गया जो नौ महीने से बेहोश थी, 'कोमा' में पड़ी थी और चिकित्सक कह रहे थे कि वह तीन साल तक बेहोश पड़ी रहेगी। वह ठीक नहीं हो सकेगी लेकिन ऐसी ही बेहोश पड़ी रहेगी। इन्जेक्शन्स, दवाइयाँ और भोजन उसे दिया जाता रहेगा। कभी मर जायेगी। बड़ी हैरानी की बात है कि वह नौ महीनों से बेहोश पड़ी है। तो मैंने कहा कि जब और जीने की ओर लौटने की कोई आशा ही नहीं है तो फिर क्या कारण होगा ? उन्होंने कहा कि हम कुछ भी नहीं कह सकते। लेकिन मनस्विद् कहेगा कि जीने की आकांक्षा अभी भी गहरे में है। अचेतन से अचेतन में जीवेषणा अभी भी है। जीवेषणा चलाये जायेगी।

अब पूछिये कि यह जीवेषणा किसकी है ? जीवेषणा अगर हमारी ही हो तो

शायद हम कभी-कभी चूक भी जायें। यह जीवेषणा परमात्मा की ही है, अन्यथा हम चूक जायें कभी-कभी। इसलिए जो भी गहरे हिस्से हैं जीवन के, वे हम पर नहीं छोड़े गये हैं, वे हमारे कर्म नहीं, वे हमारी क्रियाएँ बन गये हैं। जैसे, अगर श्वास लेना आपके ही हाथ में हो कि आप श्वास लें तो लें, न लें तो न लें। जैसे पैर का चलना चले तो चले, न चले तो न चले। ऐसा अगर श्वास लेना भी आपके हाथ में हो तो आदमी दिन में दस-बीस दफा मर जाये। जरा चूकें और मरे। तो आपके हाथ में जो बिलकुल व्यर्थ की बातें हैं। जिनके हेरफेर से कोई फर्क नहीं पड़ता, वही दिखायी भी पड़ती हैं। बाकी सब महत्त्वपूर्ण चीजें गहरी जीवनधारा के हाथ में, परमात्मा के हाथ में हैं। वह आपके हाथ में नहीं। नहीं तो आप कई दफे भूल-चूक कर जायें। भूल गये दो मिनट साँस न ली, १० रुपये का नोट खो गया। १० मिनट भूल गये श्वास न ली, पत्नी गुस्से में आ गयी, भूल गये दो मिनट हृदय न धड़काया, गये। न, वह आपके चेतन मन पर निर्भर नहीं है, अचेतन पर निर्भर है।

अचेतन एक तरफ आपसे जुड़ा है और दूसरी तरफ गहरे में परमात्मा से जुड़ा है। इसलिए जब हम कहते हैं परमात्मा स्रष्टा है, क्रियेटर है तो उसका यह मतलब नहीं होता जैसा कि लोग समझ लेते हैं। माननेवाले भी और न माननेवाले भी दोनों ही गलत समझते हैं। उसका मतलब यह नहीं कि किसी तारीख को देखकर, किसी मुहूर्त को देखकर परमात्मा ने दुनिया बना दी। माननेवाले भी ऐसा ही समझते हैं, विरोध करनेवाले भी ऐसा ही समझते हैं। वे दोनों ही एक से जैसे नासमझ हैं।

परमात्मा स्रष्टा है, उसका मतलब केवल इतना ही है कि इस क्षण भी उसकी शक्ति ही सृजन कर रही है, और जीवन को चला रही है, इस क्षण भी, अभी भी वही है। गहरे में वही निर्मित करता है। अगर सागर में लहर उठती है तो वह उसी की लहर है, अगर हवाओं में आँधी आती है तो वह उसी की आँधी है, अगर प्राणों में जीवन आता है तो वह उसी का ही जीवन है। अगर मस्तिष्क के जड़ सेल्स में बुद्धि चमकती है तो वह उसी की बुद्धि है। ऐसा नहीं कि इतिहास के किसी क्षण में जैसे ईसाई कहते हैं कि जीसस से ४ हजार ४ वर्ष पहले एक तिथि कैलेण्डर में परमात्मा ने सारी दुनिया बना दी। तो मामला खत्म हो गया तब से उसकी कोई जरूरत भी नहीं। एक दफा आरकीटेक्ट मकान बना गया फिर उसको बिदा कर दिया, अब उसको बार-बार बीच में लाने की क्या जरूरत है। परमात्मा ऐसा कुछ निर्माण करके चला नहीं गया है। जीवन की सारी प्रक्रिया उसकी ही प्रक्रिया है। एक छोर पर हम यहाँ चेतन हो गये हैं, वहाँ हमको भ्रम पैदा हुआ है कि हम कर रहे हैं।

कृष्ण वही कह रहे हैं कि तू कर रहा है ऐसा मानना भर छोड़। कर्म तो होता ही रहेगा, क्रिया तो चलती ही रहेगी, तू अपना भ्रम भर बीच से छोड़ दे कि तू कर रहा है। जब तुझे दिखायी पड़ेगा कि तेरे पीछे, तेरे पास परमात्मा के ही हाथ तेरे हाथों में हैं, परमात्मा की आँख तेरी आँखों में है, परमात्मा की ही धड़कन तेरी धड़कन में है, परमात्मा की श्वास तेरी श्वास में है, तब रोयें-रोयें में तू अनुभव करेगा वही है। अपने में ही नहीं, दूसरे के रोयें-रोयें में तू अनुभव करेगा कि वही है।

एक बार अहंकार का भ्रम टूटे, एक बार आदमी अहंकार की नींद से जागे तो पाता है कि मैं तो था ही नहीं। जो था वह बहुत गहरा है, मुझसे बहुत पहले है। बाद में भी जो होगा। मेरे बाद भी मैं उसमें हूँ। लेकिन मेरा **'मैं' लहर को आ गया अहंकार** है। लेकिन अहंकार आ जाये तो भी लहर सागर से अलग नहीं हो जाती। होती तो सागर में ही है। लहर अगर सोचने भी लगे कि मैं उठ रही हूँ तो भी लहर नहीं उठती, उठता तो सागर ही है। और लहर सोचने लगे कि मैं चल रही हूँ तब भी चलती नहीं, चलता तो सागर है। और लहर गिरती है और सोचने लगे कि मैं गिर रही हूँ तब भी लहर गिरती नहीं है गिरता तो सागर ही है और इस पूरे वहम में, पूरे भ्रम में जब लहर होती है तब भी वह होती सागर ही है।

इतना ही कृष्ण कह रहे हैं कि तू पीछे देख, गहरे देख, ठीक से देख। **करना तेरा नहीं है, करना उसका है।** तू नाहक बीच में 'मैं' को खड़ा कर रहा है। उस 'मैं' को जाने दे।

एक छोटी-सी कहानी और अपनी आज की बात पूरी करूँ। मैंने सुना है कि एक आदमी परदेस को गया। वहाँ की भाषा नहीं जानता। अपरचित है। किसी को पहचानता नहीं। एक बहुत बड़े महल के द्वार पर खड़ा है। लोग भीतर जा रहे हैं तो वह भी उनके पीछे भीतर चला गया है। वहाँ देखा कि बड़ा साज-सामान है, लोग भोजन के लिए बैठ रहे हैं तो वह भी बैठ गया है। भूख उसे जोर से लगी है। बैठते ही थाली बहुत-बहुत भोजनों से भरी उसके सामने आ गयी तो उसने भोजन भी कर लिया। उसने सोचा मालूम पड़ता है कि सम्राट् का महल है और कोई भोज चल रहा है। अतिथि आ-जा रहे हैं। वह उठकर धन्यवाद देने लगा है। जिस आदमी ने भोजन लाकर रखा है, उसे बहुत झुक-झुक कर सलाम करता है लेकिन वह आदमी उसके सामने बिल बढ़ाता है। वह एक होटल है। वह आदमी उसे बिल देता है कि पैसे चुकाओ और वह सोचता है कि शायद मेरे धन्यवाद का प्रत्युत्तर दिया जा रहा है, वह बिल लेकर जेब में रखकर और धन्यवाद देता है कि बहुत-बहुत खुश हूँ कि मेरे जैसे अजनबी आदमी

का इतना स्वागत, इतना सम्मान दिया। इतना सुन्दर भोजन दिया। मैं अपने देश में जाकर प्रशंसा करूँगा।

लेकिन वह बैरा कुछ समझ नहीं पाता, वह उसे पकड़ कर मैनेजर के पास ले जाता है। वह आदमी सोचता है कि शायद मेरे धन्यवाद से सम्राट् का प्रतिनिधि इतना प्रसन्न हो गया है। यह शायद किसी बड़े अधिकारी से मिलने ले जा रहा है। जब वह मैनेजर भी उससे कहता है कि पैसे चुकाओ, तब भी वही समझता है कि धन्यवाद का उत्तर दिया जा रहा है। वह फिर धन्यवाद देता है। तब मैनेजर उसे अदालत में भेज देता है। तब वह समझता है कि अब मैं सम्राट् के सामने ही मौजूद हूँ। मजिस्ट्रेट उससे बहुत कहता है कि तुम पैसे चुकाओ, तुम यह क्या बातें करते हो? तुम पागल हो कि किस तरह के आदमी हो? लेकिन वह धन्यवाद ही दिये जाता है और कहता है मेरी खुशी का कोई ठिकाना ही नहीं।

तब वह मजिस्ट्रेट कहता है कि इस आदमी को गधे पर उलटा बिठाकर, इसके गले में एक तख्ती लगाकर कि यह आदमी बहुत चालबाज है, गाँव में निकालो। जब इसे गधे पर बिठाया जा रहा था तो वह सोचता है कि अब मेरा प्रोसेशन, अब मेरी शोभा-यात्रा निकल रही है। निकलती है शोभा-यात्रा। १०-५ बच्चे भी ढोल पीटते हुए पीछे हो लेते हैं। लोग हँसते हैं, खिलखिलाते हैं, भीड़ लग जाती है। वह सबको झुक-झुक कर नमस्कार करता है। वह कहता है कि बड़े आनन्द की बात है, परदेशी का इतना स्वागत!

फिर भीड़ में उसे एक आदमी दिखायी पड़ता है जो उसके ही देश का है। उसे देखकर वह आनन्द से भर जाता है। क्योंकि जब तक अपने देश का कोई देखने वाला ही न हो तो मजा भी बहुत नहीं। घर जाकर कहेंगे भी तो कोई भरोसा भी करेगा या नहीं करेगा। एक आदमी भीड़ में दिखायी पड़ता है तो वह चिल्लाकर कहता है, अरे भाई, ये लोग कितना स्वागत कर रहे हैं। लेकिन वह आदमी सिर झुकाकर भीड़ से भाग जाता है। क्योंकि उसे तो यह पता है कि यह क्या हो रहा है? लेकिन वह गधे पर सवार आदमी समझता है कि ईर्ष्या से जला जा रहा है।

करीब-करीब अहंकार पर बैठे हुए हम इसी तरह की भ्रान्तियों में जीते हैं। उनका जीवन के तथ्य से कोई संबंध ही नहीं होता क्योंकि जीवन की भाषा हमें मालूम नहीं। और हम जो अहंकार की भाषा बोलते हैं उसका जीवन से कहीं कोई ताल-मेल नहीं होता।

आज इतना ही। शेष फिर कल।

तीसरा प्रवचन

●

गीता-ज्ञान-यज्ञ, बम्बई, रात्रि, दिनांक ३१ दिसम्बर १९७०

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अर्थ : "और हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इंद्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ। कर्मेन्द्रियों से कर्म योग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।"

आचार्यश्री : मनुष्य के मन में वासना है, कामना है। उस कामना का परिणाम सिवाय दुःख के और कुछ भी नहीं है। उस **वासना से सिवाय विषाद के, फ्रस्ट्रेशन के और कभी कुछ मिलता नहीं। लगता है मिलेगा सुख, लेकिन मिलता है सदा दुःख।** लगता है मिलेगी शांति, मिलती है सदा **अशान्ति।** लगता है उपलब्ध होगी स्वतन्त्रता, लेकिन आदमी और भी गहरे **बन्धन** में बँधता चला जाता है। कामना मनुष्य का दुःख है, तृष्णा मनुष्य की पीड़ा है। निश्चित ही वासना से उठे बिना, वासना के पार हुए बिना कोई व्यक्ति कभी आनन्द को उपलब्ध नहीं हुआ है। पर इस वासना से ऊपर उठने के लिए दो काम किये जा सकते हैं। क्योंकि इस वासना के दो हिस्से हैं।

एक तो वासना से भरा हुआ चित्त है, मन है, और एक है वासना के उपयोग में आने वाली इंद्रियाँ। जो आदमी ऊपर से पकड़ेगा उसे इंद्रियाँ पकड़ में आती हैं और वह इंद्रियों की शत्रुता में पड़ जाता है। कृष्ण ने कहा वैसा आदमी नासमझ है, अज्ञानी है, मूढ़ है। लेकिन दूसरी बात वे कह रहे हैं कि **वह मनुष्य श्रेष्ठ है जो मन को ही रूपान्तरित करके इंद्रियों को वश में कर लेता है।** इंद्रियों का वश में होना इंद्रियों का मर जाना नहीं है। इंद्रियों का वश में होना इंद्रियों का निर्वीर्य हो जाना नहीं है। इंद्रियों का वश में होना, इंद्रियों का अशक्त हो जाना नहीं है। क्योंकि अशक्त को वश में भी किया तो क्या वश किया ? निर्बल को जीत भी लिया तो क्या जीता।

कृष्ण कहते हैं, श्रेष्ठ है वह पुरुष जो इंद्रियों से लड़ता ही नहीं बल्कि मन को ही रूपान्तरित करता है और इन्द्रियों को वश में कर लेता है। इन्द्रियों को मारता नहीं, लड़ता नहीं, वश में कर लेता है। निश्चित ही लड़ने की कला

बिलकुल ही ना-समझी से भरी है। कहना चाहिए कि कला नहीं है, कला का धोखा है। वश में करने की कला बहुत ही भिन्न है। इंद्रियाँ किसके वश में होती हैं ? साधारणतः तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम इन्द्रियों के वश में हैं। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है।

साधारणतः तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम इन्द्रियों के गुलाम हैं। साधारणतः तो जिन्दगी ऐसी ही है जहाँ इंद्रियाँ आगे चलती मालूम पड़ती हैं और हम पीछे चलते मालूम पड़ते हैं। जब मैं कह रहा हूँ इंद्रियाँ आगे चलती मालूम पड़ती हैं तो उसका मतलब है कि वासनाएँ आगे चलती मालूम पड़ती हैं। **वासनाएँ हमें दिखायी नहीं पड़ती हैं जब तक कि वे इंद्रियों में प्रविष्ट न हो जायें।** वासनाएँ तब तक अदृश्य होती हैं जब तक इंद्रियों पर हावी न हो जायें। इसलिए हमें तो इंद्रियाँ ही दिखायी पड़ती हैं। वासनाओं का जो सूक्ष्म-तम रूप है वह अतींद्रिय है। वह हमें दिखायी नहीं पड़ता है।

आपके मन में कोई भी वासना उठे तो वासना दिखायी नहीं पड़ती, जब तक उस वासना से सम्बन्धित इंद्रिय आविष्ट न हो जाय। अगर आपके मन में किसी को छूने की वासना उठी है तो तब तक उसका स्पष्ट बोध नहीं होता है, जब तक छूने के लिए शरीर आतुर न हो जाय। जब तक वासना शरीर को घेर नहीं लेती, आकार नहीं ले लेती, जब तक वासना इंद्रियों में गति नहीं बन जाती तब तक हमें उसका पता नहीं चलता। इसलिए बहुत बार ऐसा होता है कि **क्रोध का हमें तभी पता चलता है जब हम कर चुके होते हैं।** काम का हमें तभी पता होता है जब वासना हम पर आविष्ट हो गयी होती है। हम पोजेस्ड (Possessed) हो गये होते हैं, तभी पता चलता है। और शायद तब तक लौटना मुश्किल हो गया होता है, तब तक शायद वापसी असंभव हो गयी होती है।

वासना हमारे आगे चलती है और हम छाया की तरह पीछे चलते हैं। मनुष्य की गुलामी यही है। और जो मनुष्य ऐसी गुलामी में है—उसे कृष्ण कहेंगे वह निकृष्ट है, उसे अभी मनुष्य कहे जाने का हक नहीं है। मनुष्य कहलाने का हक उसे है जिसकी वासनाएँ उसके पीछे चलती हैं। लेकिन इधर फ्रायड के बाद सारी दुनिया को यह समझाया गया है कि वासनाएँ कभी पीछे चल ही नहीं सकतीं, वासनाएँ आगे ही चलेंगी। और यह भी समझाया गया है कि वासनाओं को वश में किया ही नहीं जा सकता। आदमी को ही वासना के वश में रहना होगा। और यह भी समझाया गया है कि विल पावर या संकल्प की, सत्य की जितनी बातें हैं वह सब झूठी हैं। आदमी के पास कोई संकल्प नहीं है।

इसके परिणाम ये हुए हैं कि आदमी ने इन्द्रियों की गुलामी को परिपूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। आदमी राजी हो गया है कि हम तो वासनाओं के गुलाम रहेंगे ही। और जब गुलाम ही रहना है तो फिर ठीक तरह से, पूरी तरह से ही गुलाम हो जाना उचित है क्योंकि मालिक होने का कोई उपाय ही नहीं है। शरीरवादी सदा से यही कहते रहे हैं। सच तो यह है कि अधिक लोग शरीरवादी ही हैं। अधिक लोग चारवाक से ही सहमत हैं। अधिक लोग मार्क्स से सहमत ही हैं। अधिक लोग फ्रायड से सहमत ही है। **अधिक लोग इस बात से राजी ही हैं कि हम शरीर से ज्यादा कुछ भी नहीं है। इसलिए शरीर की माँग ही हमारी जिन्दगी है और शरीर की वासना ही हमारी आत्मा है।** इसलिए ये जहाँ ले जायें, अंधी इन्द्रियाँ और जहाँ ले जायें, अंधी वासनाएँ हमें वहीं भाग कर चले जाना है।

आदमी का वासनाओं पर कोई वश नहीं है। यह बात अगर एक बार कोई मानने को राजी हो जाये तो वह सदा के लिए अपनी आत्मा खो देता है। क्योंकि **आत्मा पैदा ही तब होती है जब वासना पीछे हो और स्वयं का होना आगे हो।** आत्मा का जन्म ही तब होता है जब वासना छाया बन जाये। जब तक वासना आगे होती है और हम छाया होते हैं तब तक हममें आत्मा पैदा नहीं होती है। सिर्फ संभावना होती है, पोटेन्शियलिटी होती है—एक्चुएलिटी नहीं होती है। तब तक आत्मा हमारे लिए बीज की तरह होती है, वृक्ष की तरह नहीं होती है। कृष्ण कह रहे हैं वह आदमी श्रेष्ठ है, अर्जुन, जो अपनी इन्द्रियों को मन के वश में कर लेता है। मन के वश में इन्द्रियों को करियेगा कैसे ?

हमें तो एक ही रास्ता दिखायी पड़ता है कि लड़ो, इन्द्रियों को दबा दो तो इन्द्रियाँ वश में हो जायेंगी। दबाने से कोई इन्द्रिय वश में नहीं होती। **दबाने से सिर्फ इन्द्रियाँ परवर्ट** (pervert), **विकृत होती हैं** और सीधी माँगें तिरछी माँगें बन जाती हैं, और हम सीधे न चलकर पीछे के दरवाजे से पहुँचने लगते हैं **और पाखण्ड फलित होता है।** दबाना मार्ग नहीं है, फिर क्या मार्ग है ? मनुष्य की वासनाएँ तब तक उसे पकड़े रहती हैं जब तक उसके पास संकल्प, विल (will) न हो। जब तक उसके पास संकल्प जैसी सत्ता का जन्म न हो। इस संकल्प के सम्बन्ध में थोड़ा गहरे उतरना आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना कोई आदमी कभी वासनाओं पर वश नहीं पा सकता है।

संकल्प का क्या अर्थ है ? **संकल्प का अर्थ इन्द्रियों का दमन नहीं है।** संकल्प का अर्थ है स्वयं के होने का अनुभव, **संकल्प का अर्थ है स्वयं की मौजूदगी का अनुभव।** आपको भूख लगी है, शरीर कहता है कि भूख लगी है,

आप कहते हैं कि सुन ली मैंने आवाज लेकिन अभी मैं भोजन करने को राजी नहीं हूँ। और अगर आप पूरे मन से यह बात कह सकें कि अभी मैं भोजन करने को राजी नहीं हूँ तो शरीर तत्काल माँग बंद कर देता है। **जैसे ही शरीर को पता चल जाये कि आपके पास शरीर के ऊपर संकल्प भी है वैसे ही शरीर तत्काल माँग बन्द कर देता है।** आपकी कमजोरी ही शरीर की ताकत बन जाती है। आपकी ताकत ही शरीर की कमजोरी बन जाती है। **लेकिन हम कभी शरीर से भिन्न अपनी कोई घोषणा नहीं करते।**

कभी छोटे-छोटे प्रयोग करके देखना जरूरी है। बहुत छोटे प्रयोग हैं जिनमें आप शरीर से भिन्न अपने होने की घोषणा करते हैं। सारे धर्मों ने इस तरह के प्रयोग विकसित किये हैं। लेकिन करीब-करीब सभी प्रयोग नासमझ लोगों के हाथ में पड़कर व्यर्थ हो जाते हैं। **उपवास** इसी तरह का प्रयोग था जो **मनुष्य के संकल्प को जन्माने के लिए था।** आदमी अगर पूरे मन से कह सके कि नहीं चाहिए भोजन तो शरीर माँग बंद कर देगा। और जब पहली दफा यह पता चलता है कि शरीर के अतिरिक्त भी मेरी कोई स्थिति है तो आपके भीतर एक नयी ऊर्जा, एक नयी शक्ति जन्मने लगती है, अंकुरित होने लगती है। नींद आ रही है और आपने कहा कि नहीं, मैं नहीं सोना चाहता हूँ। अगर यह बात टोटल है, पूरी है, अगर यह पूरे मन से कही गयी है तो शरीर तत्काल पूरी नींद की आकांक्षा छोड़ देगा। आप अचानक पायेंगे कि नींद खो गयी है, और जागरण पूरा आ गया है। लेकिन हम जिन्दगी में कभी इसका प्रयोग नहीं करते। **हम कभी शरीर से भिन्न होने का कोई भी प्रयोग नहीं करते हैं,** शरीर जो कहता है हम चुपचाप उसको पूरा करते चले जाते हैं।

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि शरीर जो कहे उसे आप पूरा न करें? लेकिन कभी किन्हीं इन्हीं क्षणों में अपने को अलग अनुभव करना भी जरूरी है। और एक बार आपको यह अनुभव होने लगे कि शरीर से भिन्न भी आपका कुछ होना है तो आप हैरान हो जायेंगे कि उसी दिन से आपके मन की ताकत आपकी इन्द्रियों पर फैलनी शुरू हो जाती है।

गुरजिएफ, एक अद्‌भुत फकीर, अभी कुछ दिन पहले था। जैसा मैंने पिछली चर्चा में आपसे कहा कि अगर इस युग में हम सांख्य का कोई ठीक-ठीक व्यक्तित्व खोजना चाहें तो कृष्णमूर्ति हैं और अगर हम योग का कोई ठीक-ठीक व्यक्तित्व खोजना चाहे तो वह जार्ज गुरजिएफ है। गुरजिएफ एक छोटा-सा प्रयोग अपने साधकों से कराता था। बहुत छोटा। कभी आप भी करें तो बहुत हैरान होंगे और आपको पता चलेगा कि संकल्प का अनुभव क्या है? उस प्रयोग को वह कहता था **स्टॉप एक्सरसाईज।**

वह अपने साधकों को बैठा लेता और कहता कि अचानक कहूँगा 'स्टाप!' तो तुम जहाँ हो वहीं रुक जाना। अगर किसी ने हाथ उठाया था तो वह हाथ वहीं रुक जाय, अगर किसी की आँख खुली थी तो वह खुली रह जाय, अगर किसी ने बोलने को होठ खोले थे तो वह खुले रह जायँ। अगर किसी ने चलने के लिए कदम उठाया था एक और एक जमीन पर था तो वह वहीं रह जाय। **'स्टाप, ठहर जाओ' तो जो जहाँ है वह वहीं ठहर जायेगा,** जैसा है वैसा ही ठहर जाय। और जिन साधकों पर वह दो-तीन महीने यह प्रयोग करता—इस छोटे से अभ्यास का—उन साधकों को पता चलता कि जैसे ही वे ठहरते हैं वैसे ही शरीर तो कहता है पैर नीचे रखो, आँख तो कहती है पलक झपकाओ, होंठ तो कहते हैं, बन्द कर लो। लेकिन, वे रुक गये हैं, न आँख झपकेंगे, न पैर हटायेंगे, न हाथ हिलायेंगे। अब मूर्ति की तरह रह गये हैं। **तीन महीने के थोड़े से अभ्यास में ही उन्हें पता चलना शुरू होता है कि उनके भीतर कोई एक और भी है, जो शरीर को जो चाहे वह आज्ञा दे सकता है।**

कभी आप ने अपने शरीर को आज्ञा दी है! कभी भी आपने आदेश दिया है! **आपने सिर्फ आदेश लिये हैं।** आपने कभी भी आदेश दिया नहीं है। वन वे ट्रैफिक है अभी—शरीर की तरफ से आदेश आते हैं, शरीर की तरफ कोई आदेश जाता नहीं है। कभी नहीं जाता है। उसके परिणाम खतरनाक हुए हैं। उसका बड़े से बड़ा परिणाम यह है कि हमारी कल्पना ही मिट गयी है कि हमारे भीतर विल (will) जैसी, संकल्प जैसी भी कोई चीज है। और जिस व्यक्ति के पास संकल्प नहीं है वह व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं हो सकता। **संकल्पहीनता ही निकृष्टता है। संकल्पवान होना ही आत्मवान होना है।**

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन! वह मनुष्य श्रेष्ठ है जो अपनी इन्द्रियों को आज्ञा दे सकता है। जो कह सकता है 'ऐसा' करो। हम सिर्फ इन्द्रियों से पूछते हैं कि क्या करें? हम जिन्दगी भर, जन्म से लेकर मृत्यु तक इंद्रियों को पूछते चले जाते हैं कि क्या करें। और इन्द्रियाँ बताये चली जाती हैं और हम करते चले जाते हैं। इसलिए हम शरीर से ज्यादा कभी कोई अनुभव नहीं कर पाते। **आत्म-अनुभव संकल्प से शुरू होता है। और मनुष्य की श्रेष्ठता संकल्प के जन्म के साथ ही यात्रा पर निकलती है।**

प्रश्न : आचार्यश्री, कृष्ण यहाँ मन से इन्द्रियों को वश में करने के लिए कह रहे हैं लेकिन आप तो मन को ही विसर्जित करने को कहते हैं, यह कैसी बात है?

आचार्यश्री : कृष्ण भी मन को विसर्जित करने को कहेंगे। लेकिन **मन विसर्जित करने के लिए होना भी तो चाहिए। अभी तो मन है ही नहीं और**

इन्द्रियों के पीछे दौड़ना हमारा अस्तित्व है। हमारे पास मन जैसी, संकल्प जैसी कोई चीज नहीं है। दूसरे चरण पर संकल्प पैदा करना पड़ेगा और तीसरे चरण पर संकल्प को भी समर्पित कर देना होगा। लेकिन समर्पित तो वही कर पायेंगे जिनके पास होगा। जिनके पास नहीं है वह समर्पित क्या करेंगे! हम एक आदमी से कहते हैं कि धन का त्याग कर दो। लेकिन त्याग के लिए धन तो होना चाहिए न! जब धन हो ही नहीं तो त्याग क्या करेंगे? मन आपके पास है, या सिर्फ इन्द्रियों की आकांक्षाओं के जोड़ का नाम आपने मन समझा है!

तो जब हमसे कोई कहेगा कि समर्पित कर दो मन को परमात्मा के चरणों में तो हमारे पास कुछ होता ही नहीं जिसको हम समर्पण करें। हमारे पास केवल दौड़ती हुई वासनाओं का समूह होता है जिनको समर्पित नहीं किया जा सकता। किसी ने कभी कहा है कि वासनाओं को परमात्मा को समर्पित कर दो? किसी ने कभी नहीं कहा। मन को समर्पित किया जा सकता है। एक इन्टीग्रेटेड विल (संगठित संकल्प) हो तो मनको समर्पित किया जा सकता है। **और समर्पण सबसे बड़ा संकल्प है।** बड़े से बड़ा अंतिम संकल्प जो है वह समर्पण है। समर्पण तीसरे चरण में संभव है। दूसरे चरण में तो संकल्प ही निर्मित करना पड़ेगा।

आत्मा भी तो चाहिए। परमात्मा के चरणों में नैवेद्य चढ़ाना हो तो क्या वासनाओं को लेकर पहुँच जाइयेगा? आत्मा चाहिए उसके पास चढ़ाने को। 'आप' भी तो होना चाहिए! आप हैं? **अगर बहुत खोजेंगे तो कहीं नहीं पायेंगे कि आप हैं।** आप पायेंगे कि 'यह' इच्छा है, यह वासना है, वह वासना है। आप कहाँ है?

डेविड ह्यूम ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मैंने डेल्फी के मंदिर पर लिखा हुआ वचन पढ़ा—'नो दाइ सेल्फ—**अपने को जानो**' और तब से मैं अपने भीतर जा कर कोशिश करता हूँ कि अपने को जानूँ। लेकिन मैं तो स्वयं को कहीं मिलता ही नहीं हूँ, जब भी मिलता है भीतर तो कोई इच्छा मिलती है, कोई विचार मिलता है, कोई वासना मिलती है, कोई कामना मिलती है। मैं तो कभी भीतर मिलता ही नहीं हूँ। मैं थक गया खोज-खोज कर। जब भी मिलती है तो कोई वासना, कोई कामना, कोई इच्छा, कोई विचार, कोई स्वप्न—मैं तो कहीं मिलता ही नहीं हूँ। मिलेगा भी नहीं क्योंकि स्वयं को जानने के पहले वासनाओं के बीज में स्वयं की सत्ता को भी अंकुरित करना पड़ेगा।

डेविड ह्यूम ठीक कहता है। **आप भी भीतर जायेंगे तो आत्मा नहीं मिलेगी विचार मिलेंगे, वासनाएँ मिलेंगी, इच्छाएँ मिलेंगी।** आत्मा तो संकल्प के द्वार

से ही मिल सकता है। इसलिए निश्चित ही **धर्म का पहला चरण है संकल्प को निर्मित करो—'क्रियेट द विलफोर्स' और दूसरा चरण है निर्मित संकल्प को सरेन्डर करो—समर्पित करो।** पहला चरण है आत्मवान बनो, दूसरा चरण है आत्मा को परमात्मा के चरणों में फूल की तरह चढ़ा दो। पहला चरण है आत्मा को पाओ, दूसरा चरण है परमात्मा को पाओ। **आत्मा को पाना हो तो वासनाओं से ऊपर उठना पड़ेगा। और परमात्मा को पाना हो तो आत्मा से भी ऊपर उठना पड़ेगा।**

आत्मा को पाना हो तो वासनाओं पर वश चाहिए, परमात्मा को पाना हो तो आत्मा पर भी वश चाहिए। वह लेकिन दूसरा चरण है। वह इसके विपरीत नहीं है। वह इसी का आगे का कदम है। जिसके पास स्वयं का होना है वही तो समर्पित कर सकेगा। जीसस का एक बहुत अद्भुत वचन है, वह मैं आपको याद दिलाऊँ जो कृष्ण की बात के बहुत करीब है। जीसस ने कहा है कि **जो अपने को बचायेगा वह अपने को खो देगा और जो अपने को खो देगा वह अपने को बचा लेगा। लेकिन खोने या बचाने के पहले होना भी तो चाहिए।**

गुरजिएफ के पास कोई जाता था और पूछता था कि मैं स्वयं को जानना चाहता हूँ तो वह गुरजिएफ कहता था 'आप हो?'—'आर यू?' आप भी चौकेंगे अगर आप जायें ऐसे आदमी के पास और वह पूछे: 'आप हो?' तो आप कहेंगे, हूँ तो। लेकिन आपका होना सिर्फ एक जोड़ है। आप में से सारी वासनाएँ निकाल ली जायें और सारी इच्छाएँ और सारे विचार तो आप एकदम खो जाएँगे। शून्य की भाँति। **आपके पास ऐसा कोई संकल्प नहीं है जो विचार के पार हो, वासना से अलग हो, इच्छाओं से भिन्न हो।** आपके पास आत्मा का कोई भी अनुभव नहीं है। आप सिर्फ एक जोड़ हैं, एक एक्यूमुलेशन—एक संग्रह। इस संग्रह को कहाँ समर्पित करियेगा? कौन समर्पित करेगा? समर्पित करने वाला भी भीतर नहीं है।

इसलिए कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि पहले तू श्रेष्ठ बन। **श्रेष्ठ बनने का अर्थ है कि पहले तू आत्मवान बन, पहले तू मनस्वी हो, पहले तू संकल्प को उपलब्ध हो। फिर पीछे वह कहेंगे कृष्ण अर्जुन से कि सब छोड़ दे और शरण में आ जा।** लेकिन छोड़ तो वही सकता है सब जिसके पास संकल्प हो। लेकिन जो जरा सा कुछ भी नहीं छोड़ सकता वह सब कैसे छोड़ सकेगा! जो एक पैसा नहीं छोड़ सकता वह स्वयं को कैसे छोड़ सकेगा! जो एक मकान नहीं छोड़ सकता वह स्वयं की आत्मा को कैसे छोड़ सकेगा!

स्वयं को छोड़ने के पहले स्वयं का परिपूर्ण शक्ति से होना जरूरी है। इसलिए **संकल्प धर्म की पहली साधना है। समर्पण अंतिम साधना है।** कहें कि धर्म

के दो ही कदम हैं। पहले कदम का नाम है संकल्प (विल), दूसरे कदम का नाम समर्पण (सरेन्डर)। इन दो कदमों में यात्रा पूरी हो जाती है।

जो संकल्प पर रुक जायेंगे उनको आत्मा का पता चलेगा, लेकिन परमात्मा का कोई पता नहीं चलेगा। जो वासना पर ही रुक जायेंगे उनको वासना का ही पता चलेगा, आत्मा का कोई भी पता नहों चलेगा। लेकिन जो आत्मा को भी समर्पित कर देंगे उन्हें परमात्मा का पता चलता है। वह अंतिम घटना है—वह अल्टीमेट है। वह चरम, परम अनुभूति है और उसके लिए कृष्ण अर्जुन को अ, ब, स, से शुरू कर रहे हैं। वे उससे कह रहे हैं कि पहले तू संकल्पवान बन फिर पीछे जब देखेंगे कि उसके भीतर संकल्प पैदा हुआ है तो उससे कहेंगे अब तू सब छोड़ दे, 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकंशरणंव्रज' और अब तू सब छोड़ मेरी शरण में आजा। लेकिन, शरण में कमजोर लोग कभी नहीं आ सकते। यह सुनकर आपको कठिनाई होगी।

आमतौर से कमजोर लोग शरण में आते हैं। लेकिन, कमजोर आदमी कभी शरण में नहीं जा सकता। कमजोर आदमी के पास इतनी शक्ति ही नहीं होती कि दूसरे के चरणों में अपने को पूरा समर्पित कर दे। **समर्पण बड़ी से बड़ी शक्ति है**—बहुत कठिन, बहुत आरडुअस। आसान बात मत समझ लेना, आप समर्पण को। आमतौर से लोग समझते हैं कि हम कमजोर हैं, हम तो समर्पण में ही भगवान को पा लेंगे। लेकिन, कमजोर समर्पण कर नहीं सकता। कमजोर इतना कमजोर होता है कि उसका कोई 'स्व' होता ही नहीं। कमजोर होता ही नहीं; समर्पण करेगा किसका ? हाँ वह सिर चरणों में रख देता है। स्वयं को किसी के चरणों पर रखना बिलकुल और बात है। सिर तो बच्चे भी रख सकते हैं। स्वयं को चरणों में रखना और ही बात है।

स्वयं को चरणों में रखने की एक घटना याद आती है। किरेगार्ड (Kier-egaard) ने एक ईसाई कहानी की व्याख्या लिखी है। कहानी है कि एक दिन आब्राहिम को परमात्मा ने कहा कि तू अपने इकलौते बेटे को ला और मेरे मंदिर में उसकी गर्दन काट कर चढ़ा दे। ऐसी उसे आवाज आयी कि वह जाय और अपने बेटे को मंदिर में काटकर चढ़ा दे। वह उठा उसने अपने बेटे को लिया और मंदिर में पहुँच गया। उसने तलवार पर धार रखी। बेटे की गर्दन पर तलवार उठायी और गर्दन काटने को था कि तब आवाज आयी कि बस अब रुक जा ! मैं तो सिर्फ यही जानना चाहता था कि तू समर्पण की बातें करता है लेकिन समर्पण के योग्य शक्ति तुझमें है ? लेकिन बेटे की गर्दन काटने में भी उतनी शक्ति नहीं लगती जितनी अपनी गरदन काटने में लगती है।

समर्पण का मतलब है अपनी ही गरदन चढ़ा देना, सिर झुकाना नहीं।

क्योंकि वह तो एक क्षण झुकाया और उठा लिया। समर्पण का मतलब है झुके तो झुके रहे, झुके तो झुक गये। समर्पण का मतलब है अब यह गरदन न उठेगी। समर्पण का मतलब है अब हम गये चरणों में। अब वे चरण ही सब कुछ हैं, अब हम नहीं हैं। लेकिन कौन करेगा यह ? यह वही कर सकता है जिसने पहले संकल्प को संग्रहीत कर लिया हो, जिसके भीतर एक इन्टीग्रेटेड इन्डिवीजुएशन घटित हो गया हो, जिसके भीतर आत्मा क्रिस्टेलाइज्ड हो गयी हो। **जिसके भीतर आत्मा निर्मित हो गयी हो, वही आदमी आत्मा से आखिरी काम भी कर सकता है कि उसका समर्पण कर दे।**

इसलिए कृष्ण अर्जुन को पहला पाठ दे रहे हैं, वह कह रहे हैं श्रेष्ठ पुरुष वह है जिसका मन वासनाओं पर, इंद्रियों पर वश पा लेता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो, ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥ ८॥

अर्थ :—"इसलिए तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।"

आचार्यश्री :—कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। क्योंकि, **कर्म न करना सिर्फ बचना है,** डिसेप्शन है। कर्म तो करना ही पड़ेगा। जो करना ही पड़ेगा उसे होश पूर्वक करना श्रेष्ठ है। जो करना ही पड़ेगा, उसे जानते हुए करना श्रेष्ठ है। जो करना ही पड़ेगा उसे स्पष्ट रूप से सामने के द्वार से करना श्रेष्ठ है। जब करना ही पड़ेगा तो पीछे के द्वार से जाना उचित नहीं। जब करना ही पड़ेगा तो अनजाने, बेहोशी में, अपने को धोखा देते हुए करना ठीक नहीं। क्योंकि, तब करना गलत रास्तों पर ले जा सकता है, जो अनिवार्य है। वह जाग्रत, स्वीकृति पूर्वक, समग्र चेष्टा से ही किया जाना उचित है। इसलिए **कृष्ण कहते हैं कि जो करना ही है उसे परिपूर्ण रूप से, जानते हुए, होश पूर्वक, स्वधर्म की तरह करना उचित है।**

और एक दूसरी बात कहते हैं वे कि जो शास्त्र सम्मत स्वधर्म है उसे करना चाहिए। शास्त्र का अर्थ किताब नहीं है। शास्त्र सम्मत का मौलिक और गहरा अर्थ है : आज तक जिन लोगों ने जाना उनके द्वारा सम्मत, जो जानते हैं उनके द्वारा सम्मत, जो पहचानते हैं उनके द्वारा सम्मत।

एक लंबी यात्रा है मनुष्य की चेतना की उसमें हम सौ पचास वर्ष के लिए आते हैं और बिदा हो जाते हैं। आदमी आता है, बिदा हो जाता है लेकिन, आदमीयत चलती चली जाती है। आदमी के अनुभव हैं, करोड़ों वर्ष के, सार हैं अनुभवों के। आदमी ने जाना है और उस जाने को निचोड़ कर रखा है।

कृष्ण कह रहे हैं कि अनादि से, सदा से जानने वाले लोगों ने जिस बात को कहा है उससे सम्मत स्वधर्म को करना चाहिए। इसमें दो बातें समझ लेनी जरूरी हैं।

एक तो इस देश में बहुत प्राचीन समय से हमने समाज को चार वर्णों में बाँट रखा था। अर्जुन उसमें क्षत्रिय वर्ण में आता है। जन्म से ही हमने समाज को चार हिस्सों में बाँट रखा था। कोई 'हाइरेरकी' (Hierarchy) नहीं थी, कोई ऊँचा-नीचा नहीं था। सिर्फ गुणों का विभाजन था—वर्टीकल (Vertical) नहीं होरीजॉन्टल (Horizontal)। दो तरह के विभाजन होते हैं एक तो क्षैतिजिक विभाजन होता है कि मैं यहाँ मंच पर बैठा हूँ मेरी बगल में एक और आदमी बैठा है और मेरे पीछे एक और आदमी बैठा है। हम तीनों एक ही तल पर बैठे हैं लेकिन फिर भी तीन हैं। विभाजन होरीजॉन्टल है। एक विभाजन होता है कि मैं एक सीढ़ी पर खड़ा हूँ, दूसरा उससे ऊँची सीढ़ी पर खड़ा है, तीसरा उससे ऊँची सीढ़ी पर खड़ा है। तब भी विभाजन होता है, तब विभाजन वर्टीकल है।

भारत में जो वर्ण का प्राथमिक विभाजन था होरीजॉन्टल था। उसमें क्षुद्र, ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एक दूसरे के ऊपर नीचे 'हायरेरकी' में बँटे हुए नहीं थे। समाज में एक ही तल पर खड़े हुए चार विभाजन थे। बाद में होरीजॉन्टल विभाजन वर्टीकल हो गया, ऊपर नीचे हो गया। जिस दिन से ऊपर-नीचे हुआ उस दिन से वर्ण की जो कीमती आधारशीला थी वह गिर गयी और वर्ण का सिद्धांत और वर्ण का मानस्-शास्त्र शोषण का आधार बन गया। लेकिन कृष्ण के समय तक यह बात घटित न हुई थी। कृष्ण कहते हैं कि जो तेरा स्वधर्म है, जिस वर्ण में तू जन्मा है और जिस वर्ण में तू बड़ा हुआ है और जिस वर्ण की तूने शिक्षा पायी है और जिस वर्ण की तेरी तैयारी है और जिस वर्ण से तेरा हड्डी, खून, माँस, तेरा मन, तेरे संस्कार, तेरी पूरी कंडीशनिंग हुई है, उस वर्ण को छोड़कर भागने से उस वर्ण के काम को करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा क्यों? अनेक कारण हैं। दो तीन गहरे कारणों पर ख्याल कर लेना जरूरी है।

एक तो प्रत्येक व्यक्ति की अनंत संभावनाएँ हैं। लेकिन, उन अनंत संभावनाओं में से एक ही संभावना वास्तविक बन सकती है। सभी संभावनाएँ वास्तविक नहीं बन सकतीं। एक व्यक्ति जब जन्म लेता है तो उसके जीवन की बहुत यात्राएँ हो सकती हैं। लेकिन, अंततः एक ही यात्रा पर उसे जाना पड़ता है। जीवन की वास्तविकता हमेशा वन डायमेन्शल, एक आयामी होती है और जीवन की पोटेन्शियलिटी मल्टी डायमेन्शनल होती है, जीवन की संभावना अनंत आयामी होती है।

हम एक बच्चे को डाक्टर भी बना सकते हैं, वकील भी बना सकते हैं और इंजीनियर भी बना सकते हैं। हम एक बच्चे को बहुत-बहुत रूपों में ढाल सकते हैं। बच्चे में बहुत लोच है, वह अनंत आयामों में जाने की संभावना रखता है। लेकिन, जायेगा एक ही आयाम में हम उसे अनंत आयामों में नहीं ले जा सकते और अगर ले जायेंगे तो हम सिर्फ उसको विक्षिप्त कर देंगे, पागल कर देंगे।

आज विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है। वह कहता है प्रत्येक व्यक्ति के जानने की क्षमता अनंत है। लेकिन जब भी कोई व्यक्ति जानने जायगा तो स्पेशलाइजेशन (विशेषज्ञता) प्राप्त करेगा। अगर एक व्यक्ति जानने निकलेगा तो वह डाक्टर ही हो पायगा। अब तो पूरा डाक्टर होना मुश्किल है, क्योंकि डाक्टरी की भी बहुत शाखाएँ हैं। वह-कान का डाक्टर होगा कि आँख का डाक्टर होगा कि हृदय का डाक्टर होगा कि मस्तिष्क का डाक्टर होगा! डाक्टरी की भी अनेक शाखाएँ हैं।

मैंने तो एक मजाक भी सुना है कि आज से पचास साल बाद एक औरत एक डाक्टर के दरवाजे पर अंदर प्रवेश हुई है और उसने कहा कि मेरी आँख में बड़ी तकलीफ है। डाक्टर उसे भीतर ले गया और फिर पूछा, कौन-सी आँख में! बायीं या दायीं? क्योंकि मैं सिर्फ दायीं आँख का डाक्टर हूँ। बायीं आँख का डाक्टर पड़ोस में है।

असल में एक आँख भी इतना बड़ा फेनोमेना है, एक छोटी-सी आँख भी इतनी बड़ी घटना है कि उसे एक आदमी पूरी जिंदगी जानना चाहे तो भी पूरा नहीं जान सकता है। इसलिए स्पेशलाइजेशन हो जायगा, इसलिए विशेषज्ञ पैदा होगा ही; उससे बचा नहीं जा सकता है। आज पश्चिम में विज्ञान के इस तरह के विशेषज्ञ पैदा हुए हैं कि एक आदमी गणित को तो गणित को ही जानता है। फिजिक्स के संबंध में वह उतना ही ना-समझ है जितना ना-समझ कोई और आदमी है। और जो आदमी फिजिक्स को जानता है वह केमिस्ट्री के संबंध में उतना ही अज्ञानी है जितना गाँव का कोई किसान। प्रत्येक व्यक्ति की जानने की एक सीमा है और उस सीमा में उसको यात्रा करनी पड़ती है। और रोज सीमा नैरो, सकरी होती चली जायेगी।

जैसे आज पश्चिम में विज्ञान स्पेशलाइज्ड हुआ ऐसे ही भारत में हजारों साल पहले हमने चार व्यक्तित्वों को स्पेशलाइज्ड कर दिया था। हमने कहा था जब कुछ लोग क्षत्रिय ही होना चाहते हैं तो उचित है उन्हें बचपन से ही क्षत्रिय होने का मौका मिले। हमने सोचा कि जब कुछ लोग ब्राह्मण ही हो सकते हैं और क्षत्रिय नहीं हो सकते हैं तो उचित है कि उन्हें बचपन के पहले क्षण से

ही ब्राह्मण की हवा मिले, ब्राह्मण का वातावरण मिले ताकि उनका एक क्षण भी व्यर्थ न जाय।

इसमें एक और गहरी बात आपसे कह दूँ जो कि साधारणतः आपके ख्याल में नहीं होगी और वह यह है कि जब हमने यह बिल्कुल तय कर दिया कि जन्म से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण हो जायेगा और कोई व्यक्ति क्षत्रिय हो जायेगा तब भी हमने यह उपाय रखा था कि कभी अपवाद हो तो हम व्यक्तिओं को दूसरे वर्णों में प्रवेश दे सकते थे। लेकिन वह एक्सेप्शन (अपवाद) की बात थी। वह नियम नहीं था, नियम की जरूरत न थी। कभी-कभी ऐसा होता था कि कोई विश्वामित्र वर्ण बदल लेता था, लेकिन यह अपवाद था वह नियम नहीं था। साधारणतः जो व्यक्ति जिस दिशा में दीक्षित होता था, जिस दिशा में निर्मित होता था वह उसी दिशा में आनंदित होता था उसी दिशा में यात्रा करता था।

कृष्ण भी अर्जुन को कह सकते थे कि तू वर्ण बदल ले, लेकिन कृष्ण बहुत भली-भाँति अर्जुन को जानते हैं। **वह क्षत्रिय होने के अतिरिक्त कुछ और हो नहीं सकता है।** उसका रोआँ-रोआँ क्षत्रिय का है, उसकी श्वास-श्वास क्षत्रिय की है। सच तो यह है कि अर्जुन जैसा क्षत्रिय फिर दुबारा हम पैदा नहीं कर पाये। इसके स्वधर्म के बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसका व्यक्तित्व वन डायमेन्शनल हो गया है। सारी तैयारी उसकी जिस काम के लिए है उसी से वह छोड़ कर भागने की बात कर रहा है।

जब हमने यह तय कर लिया था कि लोग जन्म से ही चार वर्णों में विभक्त होंगे तो हमने **आत्माओं को भी चुनाव पूर्वक जन्म लेने की सुविधा** दे दी थी। यह जरा ख्याल में ले लेना जरूरी है और इस पर ही **वर्णों का जन्मगत आधार,** टिका था। आज जो लोग भी वर्ण के विरोध में बात करते हैं, उन्हें इस संबंध का जरा भी, कुछ पता नहीं है।

जैसे ही एक व्यक्ति मरता है तो उसकी आत्मा नया जीवन खोजती है। नया जीवन, पिछले जन्मों में उसने जो कुछ किया है, सोचा है; पिछले जन्म में वह जो कुछ बना है; पिछले जन्म में उसकी जो-जो निर्मिति हुई है उसके आधार पर वह नया गर्भ खोजता है। **वर्ण की व्यवस्था ने उस गर्भ खोजने में आत्माओं के लिए बड़ी सुविधा बना दी थी।** एक ब्राह्मण मरते ही ब्राह्मण-गर्भ को खोज पाता था। वह सरल था। इतनी कठिन नहीं रह गयी थी वह बात, वह बहुत आसान बात हो गयी थी। वह उतनी ही आसान बात थी जैसे हमने दरवाजों पर आँख के स्पेशलिस्ट की तख्ती लगा रखी है, तो बीमार को खोजने में आसानी है। हमने हृदय (Heart) की जाँच करने वाले डाक्टर की तख्ती लगा रखी

है तो बीमार को खोजने में आसानी है। ठीक ऐसे ही हमने आत्मा को भी उसके अपने इंट्रोवर्ट या ऐक्स्ट्रोवर्ट होने की जो भी सुविधा और संभावना है उसके अनुसार गर्भ खोजने के लिए वर्ण-नियम की सील लगा रखी थी। इसलिए आमतौर से यह होता था कि ब्राह्मण अनंत-अनंत जन्मों तक ब्राह्मण के गर्भ में प्रवेश कर जाता था। क्षत्रिय अनन्त जन्मों तक क्षत्रिय का गर्भ खोज लेता था। इसके परिणाम बहुत कीमती थे।

इसका मतलब यह हुआ कि **हम एक जन्म में ही स्पेशलाइजेशन नहीं देते थे। हम अनन्त जन्मों की श्रृंखला में स्पेशलाइजेशन दे देते थे।** अगर किसी दिन यह हो सके कि आइंस्टीन फिर एक ऐसे बाप के घर में पैदा हो जाये जो फिजिसिस्ट हो अगर यह संभव हो सके कि आइंस्टीन को फिर नये जन्म के साथ ही जहाँ उसका पिछला जन्म समाप्त हुआ था, वहाँ जो-जो उसने विकसित किया था उसको विकास करने का मौका मिल जाय, तो हम दुनिया में बहुत-बहुत विकास करने की संभावनाएँ पैदा कर पायेंगे। लेकिन आइंस्टीन को फिर नया गर्भ खोजना पड़ेगा। हो सकता है वह एक घर में पैदा हो जो दूकानदार का घर है और तब उसकी पिछले जन्म की यात्रा और नयी यात्रा में बहुत व्यवधान पड़ जायेगा।

यह आज हमारी कल्पना में भी आना मुश्किल है, कि अनेक जन्मों की श्रृंखला में भी व्यक्ति को हमने चैनेलाइज करने की कोशिश की थी। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि शास्त्र सम्मत वह कर्म कर जो अनन्त-अनन्त दिनों से अनन्त-अनन्त लोगों के द्वारा जाने हुए विज्ञान के अनुसार है। तेरी आत्मा आज ही कोई क्षत्रिय हो। ऐसा भी नहीं है **क्षत्रिय होना तेरा बहुत जन्मों का स्वधर्म है।** उसे ले कर तू पैदा हुआ है। आज तू अचानक उससे मुकरने की बात करेगा तो तू सिर्फ एक असफलता बन जायगा। तेरी जिन्दगी एक विषाद, एक फ्रस्ट्रेशन एक भटकाव हो जायेगी। युद्ध न करने से तेरी जिंदगी अनुभव की उस चरम सीमा को, उस पीक एक्सपीरियन्स को नहीं पा सकती जो तू क्षत्रिय होकर ही पा सकता है।

जब भी लोग वर्ण के विरोध में या पक्ष में बोलते हैं तो उन्हें कोई भी अंदाज नहीं है कि वर्ण के पीछे अनन्त जन्मों का विज्ञान है। उसमें ध्यान इस बात का है कि हम व्यक्ति की आत्मा को दिशा दे सकें ताकि वह अपने योग्य, अपने स्वधर्म के अनुकूल, गर्भ खोज सके। आज धीरे-धीरे कन्फ्यूजन (उलझन) पैदा हुआ है। आज धीरे-धीरे सारी व्यवस्था टूट गयी है, क्योंकि सारा विज्ञान खो गया और आज हालत यह है कि आत्माओं को निर्णय करना अत्यंत कठिन होता चला जाता है कि वह कहाँ जन्म ले और जहाँ भी जन्म ले वहाँ से उनकी

पिछली यात्रा का तारतम्य ठीक से जुड़ेगा या नहीं जुड़ेगा। यह बिल्कुल सांयोगिक हो गयी है बात। इसको हमने वैज्ञानिक विधि बनायी थी।

ऐसे तो नदियाँ भी बहती हैं लेकिन जब विज्ञान विकसित होता है तो हम नहरें पैदा कर लेते हैं। नदियाँ भी बहती हैं, लेकिन नहरें सुयोजित बहती हैं। **वर्ण की व्यवस्था आत्माओं के लिए नहर का काम करती थी।** वर्ण की व्यवस्था जिस दिन टूट गयी उस दिन से आत्माएँ नदियों की तरह बह रही हैं। अब उनकी यात्रा का कोई सुसम्मत मार्ग नहीं है। इसलिए कृष्ण कहते हैं शास्त्र सम्मत् अर्थात् उस दिन तक जानी गयी आत्माओं का जो विज्ञान था उससे सम्मत् जो बात है, अर्जुन! तू उसके अनुसार अपने स्वधर्म को कर। वही श्रेयस्कर है और वैसे भी न-करने से सदा करना श्रेयस्कर है; क्योंकि करने से बचने का कोई उपाय नहीं।

प्रश्न : आचार्यश्री, पिछले श्लोक में आपने संकल्प की बात की तो संकल्प में और इन्द्रियों के दमन में क्या फर्क है? हम जानना चाहते हैं।

आचार्यश्री : संकल्प और इन्द्रियों के दमन में बुनियादी फर्क है। **संकल्प** पॉजिटिव एक्ट है, **विधायक कृत्य है और इन्द्रियों का दमन** निगेटिव एक्ट है, **नकारात्मक कृत्य है।** इसे ऐसा समझें एक आदमी को भूख लगी है। वह भूख को दबा रहा है, यह नकारात्मक है। वह यह नहीं कह रहा है कि मैं खाना नहीं खाऊँगा, भूख अब मत लग। नहीं, वह यह नहीं कह रहा है। मन में तो वह सोच रहा है खाना खाना है। भूख लगी है उसे उभार रहा है, और दबा भी रहा है। लेकिन उसका कोई पॉजिटिव विल (विधायक संकल्प) नहीं है, जो कहे कि नहीं खाना है, बात बन्द। ऐसा कोई विधायक कृत्य नहीं है। भूख लगी है, वह उसको दबाये जा रहा है। भूखसे लड़ रहा है, लेकिन भूख से अन्यथा उसके पास कोई संकल्प का जन्म नहीं हो रहा है।

इसे ऐसा समझें कि एक आदमी के भीतर कोई भी कामना उठी है, समझें कि काम-वासना उठी है और जिसके प्रति उठी है उसके साथ काम का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सामाजिक परिस्थिति प्रतिकूल होगी इसलिए सम्भव नहीं है। तब वह वासना को उकसा रहा है और दबा भी रहा है। वासना को उकसा रहा है, अगर सम्भव हो तो वासना को पूरा करना चाहेगा। लेकिन सम्भव नहीं है, असुविधापूर्ण है, खतरनाक है, सुरक्षा नहीं है, मर्यादा के बाहर है, समाज के नियम के विपरीत है, प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा, अहंकार के पक्ष में नहीं पड़ता है। पत्नी क्या कहेगी? पिता क्या कहेगा? भाई क्या कहेगा? लोग क्या कहेंगे? यह सारी बातें नकारात्मक हैं। इसलिए वह अपनी काम-वासना को दबा रहा है। हालाँकि साथ में ही वह काम-वासना से बँधा हुआ उस स्त्री के सम्बन्ध में

अपनी कल्पना को भी उभारता चला जा रहा है। रस भी ले रहा है, दबा भी रहा है। इससे विल (संकल्प) पैदा नहीं होगी, इससे विल थोड़ी बहुत होगी तो वह भी नष्ट हो जायेगी।

लेकिन संकल्पवान आदमी न इसकी फिक्र कर रहा है कि कौन क्या कहेगा, न वह फिक्र कर रहा है पत्नी क्या कहेगी, भाई क्या कहेगा, समाज क्या कहेगा? यह कोई सवाल नहीं है। वह आदमी यह कह रहा है कि मेरे भीतर ऐसी कोई वासना न उठ आये, जिसमें मेरा वश न हो। और कोई डर नहीं है। और कोई कारण नहीं है। सिर्फ मैं अपने भीतर वासनाओं के पीछे नहीं चलना चाहता हूँ। वह मालिक होना चाहता है इसलिए वासना से वह कहता है कि चुप रह। तब फिर वह कल्पनाएँ नहीं करता, इमेजिनेशन नहीं करता। सेक्सुअल इमेज पैदा नहीं करता। प्रतिमाएँ नहीं बनाता। सपने नहीं देखता। वह कहता है 'बस'। और यह जो 'बस' है यह किसी चीज को दबाने में कम लगता है, किसी चीज को जगाने में ज्यादा लगता है। अब **वह अपने को जगा रहा है।** वह कह रहा है कि इतनी ताकत मुझमें होनी चाहिए कि मैं जब कहूँ 'बस' तो बात समाप्त हो जाये। तब उसके भीतर संकल्प पैदा होगा। संकल्प एक क्रीएटिव ऐक्ट (सृजनात्मक कृत्य) है। **संकल्प अपने भीतर किसी नयी शक्ति को जगाता है। और दमन अपने भीतर पुरानी वासनाओं की शक्तियों को ही दबाता है।** दबाने में पुरानी शक्तियाँ ही नजर में होंगी, उठाने में नयी शक्ति का आविर्भाव होगा।

इस नयी शक्ति के आविर्भाव के लिए सीधा वासनाओं से प्रयोग करना शुभ नहीं होता। ज्यादा शुभ होता है और तरह की चीजों से शुरू करना। जैसे कि सर्दी चल रही है और आप सर्दी में बैठे हैं और आप अपने भीतर उस शक्ति को जगा रहे हैं जो इस सर्दी को झेलेगी, लेकिन भागेगी नहीं। आप कहते हैं मैं इस सर्दी में घण्टे भर बैठूँगा, भागूँगा नहीं। अब इसमें कोई समाज का डर नहीं है। कोई सामाजिक नियम नैतिकता नहीं है। कोई बात नहीं है। आप कहते हैं मैं भागूँगा नहीं। एक घण्टा मैं सर्दी को झेलने की तैयारी करके बैठा हूँ और देखूँगा कि मेरे भीतर कोई शक्ति जगती है जो सर्दी को घण्टे भर झेल पाये। यहाँ आप कुछ दबा नहीं रहे हैं, आप कुछ जगा रहे हैं।

तिब्बत में तो एक पूरा प्रयोग ही है जिसको 'हीट योग' कहते हैं, जिसको संकल्प से गर्मी पैदा करना कहते हैं और ल्हासा यूनिवर्सिटी में प्रत्येक विद्यार्थी को परीक्षा के साथ उस प्रयोग में से भी गुजरना पड़ता था। वह परीक्षा भी बड़ी अजीब थी। सर्द बर्फ से भरी रात में विद्यार्थियों को नग्न खड़ा रहना पड़ेगा और उनके शरीर से पसीना चूना चाहिए तब वे परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकेंगे। प्रयोग

है कि अगर संकल्पपूर्वक आप कहें कि सर्दी नहीं है और गरमी है तो शरीर पसीना छोड़ता है। हिप्नोसिस में किसी को भी छूट जाता है।

अगर किसी को बेहोश कर दें और कहें कि तेज धूप पड़ रही है और गर्मी सख्त है तो उस आदमी के माथे से, शरीर से पसीना बहना शुरू हो जायेगा। गरमी पड़ रही हो, लोग पसीने से भरे हों और एक हिप्नोटाइज्ड आदमी बेहोश पड़ा हो और अगर हिप्नोटिस्ट उससे कहे कि सर्दी बहुत जोर की है। बर्फ पड़ रही है। बाहर से ठण्डी हवाएँ आ रही हैं। हाथ पैर कँप रहे हैं। तो उस गर्मी की हालत में भी उसके हाथ पैर कँपने शुरू हो जायेंगे।

अगर बेहोशी, सम्मोहन की हालत में आपके हाथ पर एक साधारण रुपया रख दिया जाय और आपसे कहा जाय कि हाथ पर अंगारा रखा है, तो आप इस तरह चीखकर उसको फेकेंगे जैसे कि मानो वास्तव में हाथ पर अंगारा हो। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन, हाथ पर फफोला भी आ जायेगा। क्योंकि, जब संकल्प ने स्वीकार कर लिया कि अंगारा है तो शरीर को स्वीकार करना ही पड़ता है। अगर हाथ ने मान लिया कि अंगारा है तो शरीर को जलना ही पड़ेगा। फफोला उठ ही आयेगा।

तो ल्हासा यूनिवर्सिटी में तिब्बती लामा जब अपनी पूरी शिक्षा करके बाहर निकलेगा तो उसे यह भी प्रमाण देना पड़ेगा। यह संकल्प की परीक्षा होगी। पसीना तो सभी को आ जायेगा। लेकिन, यह कैसे पता चलेगा कि पहला कौन आया? दूसरा कौन आया? तो सबके पास पानी में डुबाये हुए गीले कपड़े रखे रहेंगे। उन कपड़ों को पहनो और शरीर को इतना गरमा लो कि कपड़े सूख जायँ। तो जो जितने कपड़े रात भर में सुखा देगा वह प्रथम। जो उससे कम सुखा सकेगा वह द्वितीय। जो उससे भी कम सुखा पायेगा वह तृतीय। और अब यह कोई तिब्बत की ही बात नहीं रह गयी है आज तो पश्चिम की भी बहुत सी प्रयोगशाला में सम्मोहन के द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य के मन का संकल्प जो स्वीकार कर ले वही घटित होना शुरू हो जाता है।

यदि संकल्प को जगायें तो आपको वासनाओं से लड़ना न पड़ेगा। वासनाओं को दबाना ही इसलिए पड़ता है कि संकल्प पास में नहीं है। संकल्प पास में होगा तो दबाना नहीं पड़ेगा।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहीं अपने संस्मरण में एक मजेदार बात लिखी है। बर्ट्रेन्ड रसेल तो काफी जिन्दा रहा। एक सदी के करीब जिन्दा रहा। तो उसने दुनिया बहुत रंगों में देखी। उसने लिखा है कि अब जब मैं ऑक्सफर्ड या केम्ब्रिज जाता हूँ तो बड़े माइक से शोरगुल मचाना पड़ता है कि चुप हो जाओ, चुप हो जाओ। उपकुलपति आ रहे हैं—वाइस चांसलर आ रहे हैं, चुप हो जाओ।

फिर भी कोई चुप नहीं होता और जब शुरू-शुरू में मैं यूनिवर्सिटी में गया था तो जैसे ही भीड़ चुप होने लगती थी विद्यार्थियों की तो हम समझते थे कि वाइस चांसलर आ रहे हैं। जैसे ही चुप्पी छाने लगती थी वैसे ही हम समझते थे उप कुलपति आ रहे हैं। लोगों का चुप हो जाना बताता था कि गुरु आ रहे हैं। अब चिल्लाना पड़ता है कि चुप हो जाओ, क्योंकि गुरु आ रहे हैं। फिर भी कोई चुप नहीं होता। जब चिल्लाना पड़ेगा तो चुप नहीं होता। जब चिल्लाना पड़ेगा तो चुप कौन होगा?

जब संकल्प होता है भीतर तो वासनाएँ चुप हो जाती हैं। जब संकल्प नहीं होता तो वासनाओं को जबर्दस्ती चुप करना पड़ता है। वह संकल्प के अभाव के कारण मुखर है। गुरु की पुरानी परिभाषा आपसे कहूँ। अब साधारणतः हम कहते हैं कि गुरु के पैर छूने चाहिए। पुरानी परिभाषा और है। वह यह कहती है कि जिसके चरण के पास पहुँच कर पैर छूना ही पड़े वह आदमी गुरु है। अब हम कहते हैं पिता को आदर करना चाहिए। पिता की पुरानी परिभाषा और है। जिसको आदर दिया ही जाता है वह पिता है। आज नहीं कल हम माताओं को सिखायेंगे कि बच्चों को प्रेम करना ही चाहिए। सिखायेंगे ही, सिखाना ही पड़ेगा। लेकिन बच्चे को जो प्रेम देती है, वही माँ है। 'प्रेम करना चाहिए' तो बात ही फिजूल हो गयी।

संकल्प जब भीतर होता है, पॉजिटिव शक्ति जब भीतर होती है, तो वासनाओं को दबाना नहीं पड़ता है। इशारा ही काफी होता है। इधर संकल्प खड़ा हुआ, उधर वासना विदा हुई। वासना दबानी पड़ती है, क्योंकि संकल्प भीतर नहीं है। वासनाओं को दबा कर संकल्प पैदा नहीं होगा। संकल्प पैदा होगा तो वासनाओं से छुटकारा होगा। और उस संकल्प की दिशा में आप सिर्फ वासनाओं से न लड़ते रहें। एक नियम ख्याल में ले लें कि आप जिस चीज से लड़ते हैं, उस चीज पर आप जरूरत से ज्यादा ध्यान दे देते हैं और जिसको भी ध्यान मिल जाता है वह मजबूत हो जाता है।

वासनाओं के लिए ध्यान भोजन है, अगर कोई आदमी सेक्स से लड़ेगा तो उसका सेक्स बढ़ेगा, कम नहीं होगा। क्योंकि सेक्स पर जितना ध्यान दिया जायेगा, उतना ही सेक्स शक्तिशाली होता चला जाता है। ध्यान भोजन है। आपने ध्यान दिया कि सेक्स और शक्ति पकड़ेगा। सेक्स की फिक्र छोड़ें। इसलिए हमने जो शब्द खोजा वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का मतलब आपने सोचा है कभी! उसका मतलब होता है ब्रह्म में चर्या, ब्रह्म में डूबना। हम कहते हैं काम-वासना की फिक्र छोड़ो तुम, तो ब्रह्म में डूबने की फिक्र करो। इधर तुम

ब्रह्म में डूबोगे उधर काम-वासना बिदा होने लगेगी। काम-वासना से लड़े कि मुश्किल में पड़े। फिर वह बिदा नहीं होगी, फिर वह पीछा करेगी।

लॉ ऑफ रिवर्स इफेक्ट, विपरीत परिणाम का एक नियम है जिसको पीछे पश्चिम में फ्रांस के एक विचारक इमाइल कुए ने खोजा है। उसका कहना है कि आप जो भी करना चाहते हैं अगर बहुत ज्यादा कोशिश की तो उससे विपरीत परिणाम आ जाता है। जैसे एक नया आदमी साइकल चलाना सीखता है। साठ फीट चौड़े रास्ते पर साइकल चलाता है। किनारे पर मील का पत्थर लगा है। नया सिक्खड़ है। एकदम से पत्थर उसको पहले दिखायी पड़ता है। इतना बड़ा, साठ फीट चौड़ा रास्ता उसे दिखायी नहीं पड़ता है। उसे दिखायी पड़ता है कि मरे, अब कहीं यह पत्थर से टकराहट न हो जाय। और जैसे ही 'पत्थर से टकराहट न हो जाय' यह निगेटिव ख्याल उसको पकड़ा कि रास्ता मिटा और पत्थर ही अब उसको दिखायी पड़ेगा। अब उसकी साइकल चली पत्थर की तरफ। अब वह घबड़ाया। जितनी साइकल चली पत्थर की तरफ उतना वह घबड़ाया। और उतना उसने ध्यान दिया पत्थर को कि बचना है इस पत्थर से। लेकिन, **जिससे बचना है उसमें ध्यान देना पड़ेगा और जिस पर ध्यान देना पड़ेगा उससे बचना मुश्किल है।** वह जाकर टकरायेगा। अन्धा आदमी भी साइकल चलाये तो सौ में एक मौका है पत्थर से टकराने का। क्योंकि, रास्ता साठ फीट चौड़ा है। लेकिन, यह आँखवाला पत्थर पर पहुँच जाता है एकदम। यह मामला क्या है? यह पत्थर पर हिप्नोटाइज्ड हो जाता है। 'उसको पत्थर से बचना है' बस यही उसकी मुश्किल हो जाती है। इसी में वह उलझ जाता है। और न हो, यह चाहने के कारण वही हो जाता है।

आपने अगर तय किया कि क्रोध न करेंगे तो आपसे क्रोध जल्दी होने लगेगा। नहीं, आप क्रोध की फिक्र छोड़ें, आप क्षमा करने की फिक्र करें। आप पॉजिटिव क्षमा की तरफ देखें, क्रोध की फिक्र छोड़ें। आप क्षमा करेंगे इसकी फिक्र करें। आप क्रोध नहीं करेंगे, ऐसी नकारात्मक फिक्र मत करें। आप काम-वासना से बचेंगे, ऐसी नकारात्मक दृष्टि मत लें। आप ब्रह्मचर्य में प्रवेश करेंगे ऐसी विधायक दृष्टि लें। नहीं तो आप लॉ ऑव् रिवर्स इफेक्ट में फँस जायेंगे। अधिक लोग फँसे हुए हैं। इसलिए जो वे चाहते हैं कि हो, रोज-रोज वही होता है और जब वही होता है, तो संकल्प और कमजोर होता है कि इतना तो चाहा कि वह न हो फिर भी वही हुआ। अब अपने से कुछ भी न हो सकेगा। इस प्रकार संकल्प और कमजोर होता चला जाता है। संकल्प बढ़ता है विधायक मार्ग से। वासनाओं का दबाना नकारात्मक है। यह अन्तर है दमन और संकल्प में।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ ९॥

अर्थ : "और हे अर्जुन, बन्धन के भय से भी कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं है। क्योंकि, यज्ञ अर्थात् विष्णु के निमित्त किये हुए कर्म के सिवाय अन्य कर्म में लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मों द्वारा बँधता है। इसलिए हे अर्जुन! आसक्ति से रहित हुआ उस परमेश्वर के निमित्त कर्म का भली प्रकार आचरण कर।"

आचार्यश्री : एक और भी अद्भुत बात कृष्ण कहते हैं। वे कहते हैं कि कर्मों के बन्धन से बचने के ही निमित्त जो आदमी कर्म से भागता है, वह उचित नहीं करता है। मैं कह रहा था वही बात कि जो आदमी कर्मों के बन्धन से बचने के लिए ही कर्मों को छोड़ कर भागता है वह उलटे परिणाम के नियम (लॉ ऑव् रिवर्स इफेक्ट) को उपलब्ध होगा। वह और बँध जायेगा। और कर्मों के बन्धन से भागने की जो इच्छा है वह स्वयं की स्वतन्त्रता की घोषणा नहीं, स्वयं की परतन्त्रता की ही घोषणा है। कर्म के बन्धन से कोई भाग भी नहीं सकेगा। क्योंकि कहीं भी जाय, कुछ भी करे, कर्म करना ही पड़ेगा। तब क्या करे आदमी? कृष्ण कहते हैं यज्ञ-रूपी कर्म कर। कृष्ण कहते हैं ऐसा कर्म कर जो प्रभु को समर्पित है—ऐसा कर्म जो मैं अपने लिए नहीं कर रहा हूँ। परमात्मा ने जीवन दिया, जन्म दिया, जगत् दिया। उसने ही कर्म दिया। उसके लिए ही कर रहा हूँ। ऐसे यज्ञरूपी कर्म को जो करता है, वह बन्धन में नहीं पड़ता है।

इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो सिर्फ बन्धन से बचने के लिए जो भागता है वह भाग नहीं पायेगा, वह नये बन्धनों में घिर जायेगा। ध्यान रहे, **बन्धन से बचने लिए भागनेवाला शक्तिशाली व्यक्ति नहीं है। भागते सिर्फ कमजोर हैं।** शक्तिशाली भागते नहीं, कमजोर ही भागता है। और जितना भागता है, उतना ही और कमजोर हो जाता है। भयभीत भागता है। और जो भयभीत है वह यहाँ बन्धन में है। अतः जहाँ भी जायगा वहाँ बन्धन में पड़ जायगा। **कमजोर बन्धन से बचेगा कैसे?**

एक आदमी गृहस्थी में है। वह कहता है कि घर बन्धन है। बड़े आश्चर्य की बात है। घर कहीं भी नहीं बाँधता। दरवाजे खुले हैं। घर कहीं भी लोहे की शृंखला नहीं बना हुआ है। घर कहीं पैर में जंजीर की तरह अटका नहीं है। घर कहीं नहीं बाँधता है। लेकिन, वह आदमी कहता है कि घर बाँधता है तो मैं घर छोड़ दूँ? अब समझना जरूरी है कि क्या उसको घर बाँधता है? यदि बाँधता हो तो घर छोड़ने से वह मुक्त हो जायगा। लेकिन घर किसको बाँधेगा? **घर तो बिलकुल जड़ है। वह न बाँधता है, न स्वतन्त्र करता है।** जब यह

छोड़ कर जाने लगेगा तब घर इतना भी नहीं कहेगा कि रुको, कहाँ जा रहे हो ? वह इसकी फिक्र ही नहीं करेगा। लेकिन वह आदमी कहता है कि घर बाँधता है। असल में यह बात कहीं न कहीं गलत समझ रहा है। **वह घर को अपना मानता है, इसलिए बँधता है।**

घर नहीं बाँधता। 'मेरा है घर', आदमी इस 'मेरे' से घर बँधता है। लेकिन 'मेरा' तो इसके पास ही रहेगा। यह घर छोड़ कर भाग जायगा, तब 'मेरा' आश्रम बनेगा। फिर मेरा आश्रम बाँध लेगा। वह 'मेरा' इसके साथ चला जायगा। **वह 'मेरा' इसकी कमजोरी है।** घर तो छूट जायेगा। घर छोड़ने में क्या कठिनाई है ! घर जरा भी नहीं रोकेगा कि रुकिये ! बल्कि प्रसन्न ही होगा कि गये तो अच्छा हुआ, उपद्रव टला। लेकिन, आप उस तरकीब को तो साथ ही ले जायेंगे जो गुलामी बनेगी। 'मेरा आश्रम' हो जायगा, फिर वह बाँध लेगा।

पत्नी नहीं बाँधती। पत्नी को छोड़ कर भाग जायें तो क्या ! काम-वासना पत्नी को छोड़ कर भागने के साथ क्या पत्नी के पास छूट जायेगी ? तो पत्नी जब नहीं थी आपके पास तब काम-वासना नहीं थी क्या ? जब यात्रा पर चले जाते हैं और पास में पत्नी नहीं होती है तब काम-वासना नहीं होती है क्या ? और जब पत्नी को छोड़ कर चले जायेंगे तो काम-वासना पत्नी के पास कैसे छूट जायेगी ? वह आपके साथ ही चली जायेगी। और ध्यान रहे कि पत्नी तो पुरानी पड़ गयी थी अब नयी स्त्रियाँ दिखायी पड़ेंगी जो बिलकुल नयी होंगी, तब वासना उन नयी पर और भी ज्यादा लोलुप होकर बँध जायेगी।

भागता हुआ आदमी यह भूल जाता है कि जिससे वह भाग रहा है वह बाँधनेवाली चीज नहीं है। जो भाग रहा है वही बँधनेवाला है। इसलिए कृष्ण कहते हैं भागना व्यर्थ है, पलायन व्यर्थ है, एस्केप व्यर्थ है। ध्यान रहे इस पृथ्वी पर एस्केप के खिलाफ, पलायन के खिलाफ कृष्ण से ज्यादा बड़ी आवाज दूसरी पैदा नहीं हुई। पलायन व्यर्थ, **भागना व्यर्थ है। भागकर जाओगे कहाँ ? अपने से भागोगे कैसे ?** सबसे भाग जाओगे, खुद तो साथ ही रहोगे। **और उस खुद में ही सारी बीमारियाँ हैं।** इसलिए कृष्ण कहते हैं कर्म से कोई अगर बंधन से छूटने के लिए भागता है, तो वह ना-समझ है। कर्म में कोई बंधन नहीं है। **कर्म 'मेरा' है, यही बंधन है।** इसलिए अगर कर्म को परमात्मा का है ऐसा कहने का कोई साहस जुटा ले तो कर्म यज्ञ हो जाता है और उसका बंधन गिर जाता है। क्यों गिर जाता है ? क्योंकि वह फिर मेरा नहीं रह जाता।

सार बात इतनी है कि **'मेरा' ही बंधन है।** चाहे वह मेरा मकान हो, चाहे मेरा धन हो, चाहे मेरा बेटा हो, चाहे मेरा धर्म हो, चाहे मेरा कर्म हो, मेरा संन्यास हो—**जो भी मेरा है वह बंधन बन जायगा। सिर्फ एक तरह का**

कर्म बंधन नहीं बनता है, ऐसा कर्म जो 'मेरा' नहीं, परमात्मा का है। ऐसे कर्म का नाम यज्ञ है।

यज्ञ बहुत पारिभाषिक शब्द है। इसका अनुवाद दुनिया की किसी भाषा में नहीं हो सकता है। असल में कर्म का एक बिलकुल ही नया रूप जिसमें 'मैं', कर्ता नहीं रहता बल्कि परमात्मा कर्ता होता है। **कर्म की एक बिलकुल नयी अवधारणा,** कर्म का एक बिलकुल नया कन्सेप्शन **जिसमें मैं कर्ता नहीं होता, मैं सिर्फ निमित्त होता हूँ और कर्ता परमात्मा होगा।** जिसमें मैं सिर्फ बाँसुरी बन जाता हूँ, गीत परमात्मा का, स्वर उसके।

यज्ञ रूपी कर्म बंधन नहीं लाता है। इसलिए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू **कर्म से मत भाग, बल्कि कर्म को यज्ञ बना ले। यज्ञ बना ले अर्थात् उसको तू परमात्मा को समर्पित कर दे।** तू कह दे पूरे प्राणों से कि मैं सिर्फ निमित्त हूँ और तुझे जो करवाना हो करवा ले।

नानक की जिन्दगी में एक **घटना है**—जिस घटना से नानक सन्त बने। **उस दिन से नानक का कर्म यज्ञ हो गया।** छोटी-मोटी जागीरदारी में वह नौकर हैं। और काम उनका है सिपाहियों को राशन बाँटना। तो वह दिन भर सुबह से शाम तक गेहूँ, दाल, चना, तौलते रहते हैं और सिपाहियों को देते रहते हैं।

पर एक दिन कुछ गड़बड़ हो गयी। ऐसी **गड़बड़ बड़ी सौभाग्यपूर्ण है और जब किसी की जिन्दगी में यह हो जाती है तो परमात्मा प्रवेश हो जाता है।** एक दिन सब अस्तव्यस्त हो गया, सब गणित टूट गया, सब नाप टूट गयी। नापने बैठे थे, एक से गिनती शुरू की। बारह तक सब ठीक चला। लेकिन, तेरह की जो गिनती आयी तो अचानक उन्हें तेरह से **'तेरे' का ख्याल आ गया, उसका, परमात्मा का।** बारह तक तो सब ठीक चला तेरहवें पल्ले को उलटते वक्त उनको ख्याल आ गया 'तेरा'। वह जो १३ अंक है वह तेरा। फिर चौदह नहीं निकल सका मुँह से। फिर दूसरा भी पलड़ा भरा और फिर भी कहा तेरा फिर तीसरा भी पलड़ा भरा और कहा 'तेरा'। लोग समझे कि पागल हो गये। भीड़ इकट्ठी हो गयी। उन्होंने कहा, यह क्या कर रहे हो, गिनती आगे नहीं बढ़ेगी ? तो नानक ने कहा—"उसके आगे अब और क्या गिनती होगी।" मालिक ने बुलाया और कहा पागल हो गये हो ! नानक ने कहा अब तक पागल था। **अब बस इस गिनती के आगे कुछ नहीं। अब सब तेरा।**

फिर नौकरी तो छूट ही गयी। लेकिन, बड़ी नौकरी मिल गयी—परमात्मा की नौकरी मिल गयी। **छोटे-मोटे मालिक की नौकरी छूटी, परम मालिक की नौकरी मिल गयी।** और जब भी कोई नानक से पूछता कि तुम्हारी जिन्दगी में

कहाँ से आयी यह रोशनी ? तो वह कहते 'तेरे', तेरा—(तेरह) उस शब्द से यह रोशनी आयी। जब भी कोई पूछता, कहाँ से आया यह नृत्य, कहाँ से आया यह संगीत, कहाँ से उठा यह नाद ? तो वह कहते बस एक दिन स्मरण आ गया कि तू ही है, तेरा ही है, मेरा नहीं।

तो जो कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से वह यही कह रहे हैं कि एक बार हिम्मत करके, संकल्प करके अगर तू जान पाये कि तेरा नहीं है कृत्य तो फिर कोई बंधन नहीं। क्यों बंधन नहीं ? क्योंकि **बंधन के लिए भी 'मैं' का भाव चाहिए।** बँधेगा कौन ? मैं तो चाहिए ही अगर बँधना है। अब यह बड़े मजे की बात है कि मैं अगर नहीं हूँ तो बँधेगा कौन ? बँधूँगा कैसे ? **'मैं' चाहिए बँधने के लिए और 'मेरा' चाहिए बाँधने के लिए। यह दो सूत्र ख्याल में ले लें।**

'मैं' चाहिए बँधने के लिए और मेरा चाहिए बाँधने के लिए। 'मैं' बनेगा कैदी और 'मेरा' बनेगा जंजीर। लेकिन, जिस दिन कोई व्यक्ति कह पाता है 'मैं' नहीं, 'तू' ही है—'मेरा' नहीं, 'तेरा' ही है। उस दिन न तो बंधन बचता है और न बँधने वाला बचता है। ऐसे क्षण में व्यक्ति का जीवन यज्ञ हो जाता है। यज्ञ मुक्ति है, **यज्ञ के भाव से किया गया कर्म स्वतंत्रता है।**

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

अर्थ : "प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रच कर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं को देने वाला होवे।"

आचार्यश्री : 'यज्ञपूर्वक कर्म', इसे कहने के ठीक पीछे कृष्ण कहते हैं कि सृष्टि के प्रथम क्षण में सृष्टा ने भी ऐसे ही यज्ञरूपी कर्म का विस्तार किया है। इसे भी थोड़ा समझ लेना उपयोगी है।

हम निरंतर परमात्मा को सृष्टा कहते हैं। हम निरंतर परमात्मा को बनाने वाला, क्रियेटर कहते हैं। लेकिन बनाना, सृजन, निर्माण किसी भी चीज का दो ढंग से हो सकता है। **अगर परमात्मा भी 'मैं' के भाव से सृजन करे तो वह यज्ञ नहीं रह जायेगा।** परमात्मा के लिए यह सृजन बिलकुल 'इगोलेस' मैं-भाव से रिक्त और शून्य है। कहना चाहिए कि **यह सारी सृष्टि परमात्मा के लिए सहज आविर्भाव है,** स्पॉन्टेनियस फ्लॉवरिंग है। मैं सृजन करूँ, मैं बनाऊँ ऐसा कहीं कोई भाव हो भी नहीं सकता। क्योंकि, मैं सिर्फ वहीं पैदा होता है जहाँ तू की संभावना हो। परमात्मा के लिए कोई भी 'तू' नहीं है अकेला है वह। इसलिए 'मैं' का कोई भाव परमात्मा में नहीं हो सकता। और **जिस दिन हम में भी 'मैं' का कोई भाव नहीं रह जाता उसी क्षण हम परमात्मा के हिस्से हो जाते हैं।**

यह सारी सृष्टि परमात्मा के भीतर किसी वासना का कारण नहीं है, फल नहीं है। यह सारी सृष्टि कहना चाहिए परमात्मा का स्वभाव है, ऐसे ही जैसे बीज टूटकर अंकुर बन जाता है और जैसे अंकुर टूटकर वृक्ष बन जाता है और जैसे वृक्ष फूलों से भर जाता है, ठीक ऐसे ही परमात्मा के लिए सृष्टि अलग चीज नहीं है। वह परमात्मा का स्वभाव है।

इसलिए मैं निरंतर एक बात कहना पसंद करता हूँ कि हम परमात्मा को क्रियेटर कह कर थोड़ी-सी गलती करते हैं, सृष्टा कह कर थोड़ी-सी गलती करते हैं। क्योंकि, जब हम परमात्मा को सृष्टा कहते हैं तो हम सृष्टि और सृष्टा को अलग तोड़ देते हैं। ऐसा है नहीं। **ज्यादा उचित होगा कि हम परमात्मा को सृष्टा न कह कर सर्जन की प्रक्रिया कहें।** ज्यादा उचित होगा कि हम परमात्मा को क्रियेटर न कह कर क्रियेटिविटी कहें। ज्यादा उचित होगा कि हम सृष्टि और सृष्टा को दो में न तोड़ें, बल्कि एक में ही रखें। वही है प्रथम दिन। कहने के लिए 'प्रथम दिन', बात करने के लिए 'प्रथम दिन', अन्यथा **सृष्टि के लिए कोई प्रथम दिन नहीं है और कोई अंतिम दिन नहीं है।**

कृष्ण कह रहे हैं प्रथम दिन जगत् का सृष्टा जगत् को जो जीवन, गति और सर्जन देता है, वह भी यज्ञ हुआ और जिस दिन कोई दूसरा व्यक्ति भी उसी तरह यज्ञरूपी कर्म में संयुक्त हो जाता वह भी सृष्टा का हिस्सा हो जाता है, वह भी उसका अंग हो जाता है।

मीरा नाचती है। कोई अगर मीरा को पूछे कि क्या 'तू' नाचती है ? तो मीरा कहेगी नहीं, **वही नचाता है, वही नाचता है।** अगर कोई कबीर को कहे कि तुम कपड़े बुनते हो किसके लिए ? तो कबीर कहते हैं, वही बुनता है, उसी के लिए बुनता है। इसलिए कबीर जब कपड़ा बुनते और गाँव की तरफ कपड़ा बेचने जाते तो राह पर जो भी मिलता, उससे कहते राम ! देखो कितना अच्छा कपड़ा तुम्हारे लिए बनाया है। बाजार में बैठते तो ग्राहकों को कहते राम ! कहाँ चले जा रहे हो ? कितनी मेहनत की है ! ग्राहक भी मुश्किल में पड़ते। उनकी कल्पना में न होता यह कि उन्हें कोई 'राम' पुकारेगा।

और जब कबीर के पास हजारों, सैकड़ों भक्त आने लगे तो उन्होंने कहा, बंद करिये आप कपड़ा बुनना। आपको कपड़ा बुनने की क्या जरूरत ? तब कबीर ने कहा, जब परमात्मा को भी बुनने की जरूरत है तो मैं बुनने से कैसे बचूँ ! अभी परमात्मा ही बुने जा रहा है। जीवन को और जगत् को मैंने तो अपने को उसी के हाथ में छोड़ दिया है। **अब उसकी अँगुलियाँ मेरी अँगुलियों से कपड़ा बुनती हैं। उसकी आँखें ही मेरी आँख से देखती हैं।** अब वह चाहेगा तो बंद हो जायेगा बुनना और वह चाहेगा तो जारी रहेगा। अब उसकी

मर्जी। तो कबीर कपड़ा बुनना बंद नहीं करते, कपड़ा बुने चले जाते। मेरे देखे कबीर ज्यादा गहरे साधु हैं, कपड़ा बुनना जारी रखते हैं। जो चलता था, चलता है। फर्क पड़ गया लेकिन। **यज्ञ हो गया अब कर्म। अब वह कहते हैं, वही बुनता है, उसी के लिए बुनता है। मैं हूँ ही नहीं।** इसलिए ठीक है जो उसकी मर्जी।

जीसस को जिस दिन शूली लगायी गयी, उस दिन शूली पर जब उनके हाथ पर कीले ठोंके गये तो एक क्षण को जीसस भी कँप गये। एक क्षण को जीसस भी डावाँडोल हो गये। एक क्षण को जीसस के मुँह से निकल गया हे परमात्मा! यह क्या कर रहा है? यह क्या दिखला रहा है? **शिकायत हो गयी।** जीसस को ख्याल में भी आ गयी और दूसरे ही वाक्य में उन्होंने कहा, क्षमा कर, माफ कर। भूल हो गयी। जो तेरी मर्जी। मेरे देखे इन दो वाक्यों के बीच में क्रांति घटित हुई।

जिस क्षण जीसस ने कहा, 'यह क्या कर रहा है?' उस समय जीसस का 'मैं' मौजूद है। अभी कर्म यज्ञ नहीं हुआ। दिखायी पड़ गया जीसस को कि भूल हो गयी। क्योंकि जब कोई कहता है परमात्मा से कि यह क्या कर रहा है तो उसका मतलब यह है कि कुछ गलत कर रहा है। उसका मतलब यह है कि जो होना चाहिए था वह नहीं हो रहा है। उसका मतलब यह है कि मैं तुझ से ज्यादा समझदार था। मुझ से भी पूछ लेता तो यह करने की भूल न करता! भूल हो रही है ईश्वर से! जब जीसस कहते हैं, यह क्या कर रहा है? **गहरी शिकायत है। जीसस अभी कर्म में हैं। अभी कर्म यज्ञ नहीं हो पाया। लेकिन एक ही क्षण में सारी क्रांति घटित हो गयी।** तो मैं तो निरंतर कहता हूँ कि शूली पर जिस क्षण जीसस ने कहा, 'परमात्मा यह क्या दिखला रहा है', उस समय तक वह मरियम के बेटे जीसस हैं और एक क्षण बाद, जैसे ही उन्होंने कहा: 'जो तेरी मर्जी। माफ कर, जो तू चाहे, (Thy will be done) तेरी इच्छा पूरी हो' उसी क्षण वे क्राइस्ट हो गये। **उसी क्षण क्रांति घटित हो गयी। वह मरियम के बेटे नहीं रहे। उसी क्षण वह परमात्मा के हिस्से हो गये। उसी क्षण में यज्ञ हो गया कर्म।** अब अपनी कोई मर्जी न रही। अपनी कोई बात न रही। 'जो उसकी मर्जी।'

परमात्मा इस बड़े सृजन को फैला कर भी निरंतर यही कह रहा है, इस बड़ी धारा को चला कर निरंतर यही कह रहा है—पहले दिन, बीच के दिन, आखिरी दिन। एक ही बात है कि हम इस छोटे से 'मैं' को बीच में न ले आयें। उस 'मैं' के कारण सारा उपद्रव, सारा विघ्न, सारा उत्पात खड़ा हो जाता है। **उस 'मैं' के आस-पास ही कर्म बंधन बन जाता है।**

कभी आपने ख्याल किया कि परमात्मा कहीं दिखायी नहीं पड़ता। सृष्टि दिखायी पड़ती है और स्रष्टा दिखायी नहीं पड़ता है, लेकिन कभी सोचा आपने कि इसका कारण क्या होगा? अनेक लोग कहते हैं ईश्वर कहाँ है? **असल में जिसका 'मैं' नहीं है वह दिखायी कहाँ पड़े!** असल में जिसको कभी ख्याल ही नहीं आया कि मैंने सृष्टि की है, वह दिखायी कहाँ पड़े! जो किया है वह दिखायी पड़ रहा है और करने वाला बिलकुल दिखायी नहीं पड़ रहा है। **कर्ता बिलकुल अदृश्य है और कर्म बिलकुल दृश्य है।**

कृष्ण कह रहे हैं कि तू ऐसे कर्म में जूझ जा कि कर्म ही दिखायी पड़े और कर्ता बिलकुल दिखायी न पड़े। कर्ता रहे ही न। परमात्मा को देखते हैं! कितना एबसेन्ट है! जगत् बहुत प्रजेन्ट है। **संसार बहुत मौजूद है और परमात्मा बिलकुल गैर-मौजूद है। असल में जिसके पास अहंकार नहीं, वह मौजूद हो भी कैसे सकता है।** उसके मौजूद होने का कोई उपाय भी तो नहीं है। वह गैर-मौजूद ही हो सकता है। उसकी अबसेन्स ही, उसकी प्रजेन्स है। **उसकी अनुपस्थिति ही उसकी मौजूदगी है।**

मैंने सुनी है एक कहानी कि एक ईसाई फकीर पर देवता प्रसन्न हो गये। और उन्होंने आकर उसके पैर पकड़ लिये। देवताओं ने कहा कि हम तुम्हें वरदान देने आये हैं। माँग लो तुझे जो कुछ माँगना हो। तो उस फकीर ने कहा, बड़ी गलती की, बड़ी देर से आये। जब मेरे पास माँग थी तब तुम्हारा कोई पता नहीं चला और जब मेरी कोई माँग न रही तब तुम आये हो। **अब तो कुछ माँगने को ही नहीं बचा, क्योंकि माँगने वाला ही नहीं बचा।** अब तुम व्यर्थ परेशान हो रहे हो। तुम किससे कह रहे हो? उन्होंने कहा, हम तुम से कह रहे हैं। उस फकीर ने कहा, 'लेकिन मैं तो अब हूँ नहीं, तुम परमात्मा से ही पूछ लेना—अब तो वही है।'

लेकिन ऐसे आदमी पर देवता और प्रसन्न हो गये। उन्होंने बिलकुल उसके पैर ही पकड़ लिये और कहा कि कुछ माँगना ही पड़ेगा। उसने कहा, लेकिन अब माँगे कौन? किससे माँगे? और अगर मैं माँगूँगा तो वह सबूत होगा इस बात का कि परमात्मा पर मेरा भरोसा नहीं। जो उसे देना होगा देगा, जो उसे नहीं देना है, नहीं देगा। जो उचित होगा वह होगा। जो उचित नहीं होगा, वह नहीं होगा। असल में जो होगा वह उचित होगा और जो नहीं होगा वह अनुचित होगा। इसलिए तुम जाओ। तुम गलत आदमी के पास आ गये हो। लेकिन उन्होंने कहा, हम ऐसे ही आदमी की तलाश में रहते हैं। जो माँगता है उसके पास तो हम कभी नहीं जाते। **जो नहीं माँगता हम उसके पास आते हैं।** जो 'होता' है उसके पास तो हम कभी नहीं जाते। उसके भीतर जगह ही

नहीं होती हमारे आने लायक। **जो 'नहीं हो जाता' है, हम उसके भीतर आते हैं।** हम आ गये हैं। तुम जरूर माँगो। तो उस फकीर ने कहा, जब तुम नहीं मानते तो तुम्हें कुछ देना है तो दे जाओ। मेरा माँगने का कोई सवाल नहीं है।

तो देवताओं ने कहा, हम तुम्हें एक वरदान देते हैं कि तुम अगर मुर्दे को छू दोगे तो वह मुर्दा जिन्दा हो जायगा। अगर तुम बीमार पर हाथ रख लोगे तो वह स्वस्थ हो जायगा। अगर तुम मुरझाये फूल की तरफ देख लोगे तो वह फिर से खिल जायगा। उस फकीर ने कहा, यह तो ठीक, लेकिन जब तुम दे ही रहे हो तो थोड़ी एक बात और दे दो। और क्या? पहले तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा? उसने कहा, पहले माँगने की जरूरत न थी। लेकिन, एक चीज जहाँ मिले वहाँ चीजों की शृंखला शुरू हो जाती है। एक चीज और दे जाओ। वह चीज क्या? उस फकीर ने कहा, एक यह और जोड़ दो इस वरदान में कि इसका मुझे पता न चले। मुर्दा जिन्दा हो तो हो, लेकिन मुझे पता न चले कि जिन्दा हो गया। बीमार ठीक हो, लेकिन मुझे पता न चले। क्योंकि, अब वापिस मेरे 'मैं' को बुलाने की पीड़ा और नरक में मैं नहीं पड़ना चाहता हूँ। अब तुम मुझे क्षमा कर दो। यह वरदान खतरनाक है। जब मुर्दा जिन्दा होगा तो मुझे पता न चल जाय कि मैंने जिन्दा किया है। तो तुम ऐसा करो कि यह वरदान मुझे मत दो। मेरी छाया को दे दो। मेरी छाया किसी मुर्दे पर पड़ जायेगी वह जिन्दा हो जायगा तो मुझे पता ही नहीं चलेगा। छाया पीछे पड़ेगी, बीमार ठीक हो जायगा, फूल खिल जायेंगे। मुर्झाये हुए पौधे ठीक हो जायेंगे। मैं चलता रहूँगा। कृपा करके तुम यह वरदान मेरी छाया को दे दो।

परमात्मा कहीं दिखायी नहीं पड़ता, सिर्फ उसकी छाया कभी-कभी कहीं-कहीं दिखायी पड़ती है। सिर्फ उसकी छाया इतना सारा जगत् उसकी छाया से चलता है। कृष्ण अर्जुन से यही कह रहे हैं—**तू छाया भर हो जा। इस 'मैं' को जाने दे। तू जी, श्वाँस ले, कर्म कर। भाग मत। क्योंकि, भागने में भी तेरा अहंकार तो बना ही रहेगा** कि मैं बच निकला, मैं भाग निकला। मैं हूँ। मैंने अपने को बंधन से बचा लिया, कर्म से बचा लिया। तेरा 'मैं' तो जायेगा नहीं। बंधन मौजूद होगा। तू तो इतना ही भर कर कि 'मैं' को छोड़ दे और यज्ञरूपी कर्म में प्रवृत्त हो जा। जैसे पूरा परमात्मा जगत् को यज्ञरूपी कर्म में निर्मित कर रहा है, ऐसे ही तू भी उसका एक हिस्सा हो जा तो तू मुक्त हो जायगा।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अर्थ : "तथा तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार आपस में कर्त्तव्य समझ कर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओगे।"

आचार्यश्री : कृष्ण कह रहे हैं, इस भाँति यज्ञ रूपी कर्म करते हुए तुम देवताओं के सहयोगी बनो और वे देवता तुम्हारे सहयोगी बनें। इस भाँति तुम कर्त्तव्य को उपलब्ध हो सकते हो।

इस देवता शब्द को थोड़ा समझना जरूरी है। इस शब्द से बड़ी भ्रांति हुई है। देवता शब्द बहुत पारिभाषिक शब्द है। इस जगत् में जो भी साधारण लोग हैं, जो भी साधारण आत्माएँ हैं, उनके मरते ही उनका जन्म तत्काल हो जाता है। उनके लिए गर्भ तत्काल उपलब्ध होता है। लेकिन, **बहुत असाधारण शुभ आत्मा के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध नहीं होता।** उसे योग्य गर्भ के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। बहुत बुरी आत्मा, बहुत ही पापी आत्मा के लिए भी गर्भ तत्काल उपलब्ध नहीं होता। उसे भी बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ती है। साधारण आत्मा के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध हो जाता है। इसलिए साधारण आदमी इधर मरा और उधर जन्मा। इस मृत्यु और नये जन्म के बीच में बड़ा फासला नहीं होता। कभी क्षणों का भी फासला होता है। कभी क्षणों का भी फासला नहीं होता, चौबीस घंटे और गर्भ उपलब्ध है। तत्काल आत्मा गर्भ में प्रवेश कर जाती है।

लेकिन श्रेष्ठ आत्मा नये गर्भ में प्रवेश करने के लिए प्रतीक्षा में रहती है। इस तरह की श्रेष्ठ आत्माओं का नाम देवता है। निकृष्ट आत्माएँ भी प्रतीक्षा में होती हैं। इस तरह की आत्माओं का नाम प्रेतात्माएँ हैं। ऐसी आत्माएँ जो बहुत बुरा करते-करते मरी हैं। जैसे कोई हिटलर, कोई एक करोड़ आदमियों की हत्या जिस आदमी के ऊपर है इसके लिए कोई साधारण माँ गर्भ नहीं बन सकती, न कोई साधारण पिता गर्भ बन सकता है। ऐसे आदमी को तो गर्भ के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन इसकी आत्मा इस बीच क्या करेगी? इसकी आत्मा इस बीच खाली नही बैठी रह सकती। भला आदमी तो कभी खाली भी बैठ जाय, बुरा आदमी कभी खाली नहीं बैठ सकता। कुछ-न-कुछ करने की कोशिश जारी रहेगी।

तो जब भी आप कोई बुरा कर्म करते हैं तब तत्काल ऐसी आत्माओं को आपके द्वारा सहारा मिलता है, जो बुरा करना चाहती हैं। आप वेहिकल (वाहन) बन जाते हैं। आप साधन बन जाते हैं। जब भी आप कोई बुरा कर्म करते हैं तो ऐसी आत्मा अति प्रसन्न होती है और आपको सहयोग देती है। प्रेत वह मृत-आत्मा है जिसे बुरा करना है, लेकिन उसके पास शरीर नहीं है। इसलिए कई बार आपको लगा होगा कि कोई बुरा काम आपने किया और पीछे आपको लगा होगा कि बड़ी हैरानी की बात है, इतनी ताकत मुझमें कहाँ से आ गयी कि मैं यह बुरा काम कर पाया। यह अनेक लोगों का अनुभव -

है। आप क्रोध में इतना बड़ा पत्थर उठा सकते हो जितना आप शांति में नहीं उठा सकते, तब **आपको कल्पना भी नहीं हो सकती कि कोई बुरी आत्मा भी आपके लिए सहयोग देती है।** जब एक आदमी किसी की हत्या करने जाता है तो उसकी साधारण स्थिति नहीं रह जाती। प्रेतात्माओं से वह पजेस्ड (आविष्ट) हो जाता है। अनेक हत्यारे अदालतों में यह कहते हैं कि हम मान नहीं सकते हैं कि हमने हत्या की, क्योंकि हमें तो ख्याल ही नहीं आ सकता कि हम कैसे हत्या कर सकते हैं। असल में **आपमें हत्या की वृत्ति उठे तो हत्या के लिए उत्सुक कोई आत्मा आपके ऊपर सवार हो सकती है।** वह आपको सहयोग कर सकती है।

ठीक इससे उलटा, कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि **अगर तू एक शुभ-कर्म में कर्त्ता को छोड़कर संलग्न होता है तो अनेक देवताओं का सहारा तुझे मिलता है।** जब आप कोई अच्छा कर्म करते हैं तब भी आप अकेले नहीं होते। तब भी अनेक आत्माएँ, जो अच्छा करने के लिए आतुर एवं अभीप्सित होती हैं, वे तत्काल आपके आस-पास इकट्ठी और सक्रिय हो जाती हैं। तत्काल आपको उनका सहयोग मिलना शुरू हो जाता है। तत्काल आपके लिए अनन्त मार्गों से शक्ति मिलनी शुरू हो जाती है जो आपकी भी नहीं है।

इसलिए **अच्छा आदमी भी अकेला नहीं है इस पृथ्वी पर और बुरा आदमी भी अकेला नहीं है इस पृथ्वी पर।** सिर्फ बीच के आदमी अकेले होते हैं जो न इतने अच्छे होते हैं कि अच्छे से सहयोग पा सकें, न इतने बुरे होते हैं कि बुरे से सहयोग पा सकें। सिर्फ साधारण, बीच के, मिडियाकर, मीडिल क्लास—पैसे के हिसाब से नहीं कह रहा हूँ—आत्मा के हिसाब से जो मध्यवर्गीय हैं उनको, वे भर अकेले (लोनली) होते हैं। उनको कोई सहारा ज्यादा नहीं मिलता है। और कभी-कभी हो सकता है कि या तो वे बुराई में नीचे उतरें तब उन्हें सहारा मिले या भलाई में ऊपर उठें तब उन्हें सहारा मिले। लेकिन इस जगत में अच्छे आदमी अकेले नहीं होते, बुरे आदमी अकेले नहीं होते।

जब महावीर जैसा आदमी पृथ्वी पर होता या बुद्ध जैसा आदमी पृथ्वी पर होता है तो चारों ओर से अच्छी आत्माएँ इकट्ठी सक्रिय हो जाती हैं। इसलिए जो आपने कहानियाँ सुनी हैं वह सिर्फ कहानियाँ नहीं हैं। यह बात सिर्फ कहानी नहीं है कि महावीर के आगे और पीछे देवता चलते हैं। **यह बात कहानी नहीं है कि महावीर की सभा में देवता उपस्थित थे।** यह बात कहानी नहीं है कि जब बुद्ध गाँव में प्रवेश करते हैं तो देवता भी गाँव में प्रवेश करते हैं। यह बात माइथौलाजी नहीं है, पुराण नहीं है। इसलिए भी कहता हूँ कि पुराण नहीं है, क्योंकि **अब तो वैज्ञानिक आधारों पर भी सिद्ध हो गया**

कि शरीरहीन आत्माएँ हैं। हजारों की तादाद में उनके चित्र भी लिये जा सके हैं।

अब तो वैज्ञानिक भी अपने प्रयोगशाला में चकित और हैरान हैं। अब तो उनकी भी हिम्मत टूट गयी है यह कहने की कि भूत-प्रेत नहीं हैं। कोई सोच सकता था कि **कैलिफोर्निया या इल्योनस ऐसी यूनिवर्सिटी में भूत-प्रेत का अध्ययन करने के लिए, कोई डिपार्टमेंट** होगा! पश्चिम के विश्वविद्यालय भी कोई डिपार्टमेंट खोलेंगे जिसमें भूत-प्रेत का अध्ययन चलता होगा! पचास साल पहले पश्चिम पूर्व पर हँसता था कि सुपरस्टीटस (Superstitious) हो, अंध-विश्वासी हो। हालाँकि पूर्व में अभी भी ऐसे नासमझ हैं जो पचास साल पुरानी पश्चिम की बात अभी भी दुहराये चले जा रहे हैं। पचास साल में पश्चिम ने बहुत कुछ समझा है और पीछे लौट आया है। उसके कदम बहुत जगह से वापस लौटे हैं। उसे स्वीकार करना पड़ा है कि मनुष्य के मर जाने के बाद सब समाप्त नहीं हो जाता। उसे स्वीकार कर लेना पड़ा है कि शरीर के बाहर कुछ शेष रह जाता है जिसके चित्र भी लिये जा सकते हैं। स्वीकार करना पड़ा है कि **अशरीरी अस्तित्व संभव है, असंभव नहीं है।** और यह छोटे-मोटे लोगों ने नहीं ओलिवर लॉज जैसा नोबल प्राइज विनर (विजेता) गवाही देता है कि प्रेत हैं। सी० डी० ब्राड जैसा वैज्ञानिक-चिंतक गवाही देता है कि प्रेत हैं, जे० बी० राइन और मायर्स जैसे जिन्दगी भर वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग करनेवाले लोग कहते हैं कि अब हमारी हिम्मत उतनी नहीं है पूर्व को गलत कहने की, जितनी पचास साल पहले हमारी हिम्मत थी।

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि **अगर तू अपने कर्ता को भूलकर परमात्मा के दिये कर्म में प्रवृत्त होता है तो देवताओं का तुझे साथ है, सहयोग है।** और न केवल तू अपना कर्तव्य निभाने में पूर्ण हो पायेगा बल्कि बहुत से देवता भी जो अपना कर्तव्य निभाने के लिए आतुर हैं, तेरे माध्यम से वे भी अपने कर्तव्य को निभाने में पूर्ण हो जायेंगे।

अकेला नहीं है अच्छा आदमी। अकेला नहीं है बुरा आदमी। इसलिए बुरा आदमी भी बड़ा शक्तिशाली हो जाता है और अच्छा आदमी भी बड़ा शक्तिशाली हो जाता है। वह शक्ति चारों तरफ अशरीरी आत्माओं से उपलब्ध होनी शुरू होती है।

चौथा प्रवचन

●

गीता-ज्ञान-यज्ञ, बम्बई, रात्रि, दिनांक १ जनवरी, १९७१

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्तेस्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अर्थ : "तथा यज्ञ द्वारा बढ़ाये हुए देवता लोग तुम्हारे लिए बिना माँगे ही प्रिय भोगों को देंगे। उनके द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष उनके लिए बिना दिये ही भोगता है वह निश्चय चोर है। कारण कि यज्ञ से श्रेष्ठ बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिए ही पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं।"

आचार्यश्री : इस सूत्र को हम आध्यात्मिक विवाद का जन्मदाता कह सकते हैं। इस सूत्र में दो बातें कही गयी हैं। एक तो सबसे पहली और बहुत महत्वपूर्ण बात है कि **यज्ञरूपी कर्म से दिव्य शक्तियाँ प्रसन्न होकर बिना माँगे ही सब कुछ देती हैं।** जीवन के रहस्यात्मक नियमों में से एक नियम यह है कि **जो माँगा जायगा, वह नहीं मिलेगा,** जो नहीं माँगा जायगा, वही मिलता है। जिसके पीछे हम दौड़ते हैं उसे ही खो देते हैं और जिसके पीछे हम दौड़ना छोड़ देते हैं वह हमारे पीछे छाया की तरह चला आता है। इस नियम को न समझ पाने से जीवन में बड़ा दुःख और बड़ी पीड़ा है। और साधारण जीवन में शायद कभी हमें ऐसा भ्रम भी हो जाय कि माँगने से भी कुछ मिल जाता है, लेकिन दिव्य शक्तियों से तो कभी भी माँगने से कुछ नहीं मिलता। दिव्य शक्तियों के लिए जो अपने हृदय के द्वार खोल देता है उसे सब मिल जाता है, लेकिन बिना माँगे ही।

जीसस का एक वचन है जिसमें जीसस ने कहा है : 'फर्स्ट यी सीक द किंगडम ऑफ गॉड एण्ड ऑल एल्स शैल बी ऐडेड अनटु यु'। तुम पहले प्रभु के राज्य को खोज लो और शेष सब फिर तुम्हें अपने आप ही मिल जायगा। लेकिन हम शेष सबको खोजते हैं केवल प्रभु के राज्य को छोड़कर। और शेष सब तो हमें मिलता ही नहीं और प्रभु का राज्य भी खो जाता है। जिसे जीसस

ने किंगडम ऑफ गॉड कहा है, प्रभु का राज्य कहा है, उसे ही कृष्ण दिव्य शक्ति, देवता आदि कह रहे हैं।

माँगने में होता क्या है? कामना करने में होता क्या है? इच्छा करने में होता क्या है? **जैसे ही हम माँगते हैं हमारा हृदय सिकुड़ जाता है माँगकर,** और चेतना के द्वार तत्काल बन्द हो जाते हैं। माँगें और देखें। भिखारी कभी भी फूल की तरह खिला हुआ नहीं होता है। हो नहीं सकता है। भिखारी सदा सिकुड़ा हुआ, अपने में बन्द (क्लोज्ड, closed) होगा। जब भी हम कुछ माँगते हैं तो मन एकदम बन्द हो जाता है। जब हम कुछ देते हैं तब मन खुलता है। **दान से तो मन खुलता है, माँग से मन बन्द होता है।** जब कोई परमात्मा के सामने, दिव्य शक्तियों के सामने भी माँगने खड़ा हो जाता है तो उसे पता नहीं कि माँगने के कारण ही उसके हृदय के द्वार बन्द हो जाते हैं, वह पाने से वंचित रह जाता है।

जीसस का एक और वचन मुझे स्मरण आता है जिसमें उन्होंने कहा है—भिखारियों के लिए नहीं सम्राटों के लिए—जीसस ने कहा है, जिनके पास है उन्हें और दे दिया जायगा और जिनके पास नहीं है उनसे और भी छीन लिया जायगा। बड़ी उल्टी बात है।

जब भी आप माँगते हैं तब आप कह देते हैं मेरे पास नहीं है और जब भी आप देते हैं तब आप खबर देते हैं मेरे पास है। असल में इस सूत्र का भी अर्थ यही है कि **जो बाँटता है उसे मिल जायगा और जो बटोरता है वह खो देगा।** भिखारी बटोर रहा है। भिखारी के चित्त की दो-चार बातें और ख्याल में ले लेनी चाहिए, क्योंकि **एक अर्थ में हम सब भिखारी हैं दानी होना बड़ा असंभव है।** भिखारी होना बिल्कुल आसान है। लेकिन, कठिनाई यही है कि भिखारियों को कभी कुछ नहीं मिल पाता और देनेवाले को सदा सब कुछ मिल जाता है। जैसे ही कोई माँगता है वैसे ही उसका मन तो सिकुड़ता ही है, चित्त के द्वार तो बन्द हो ही जाते हैं **जैसे ही कोई माँगता है वैसे ही भीतर डर भी समा जाता है कि पता नहीं मिलेगा या नहीं मिलेगा।** माँगनेवाला कभी निर्भय नहीं हो सकता। माँग के साथ भय, फीयर हमेशा मौजूद होता है। माँगा कि भय खड़ा है। और **परमात्मा से केवल वही जुड़ सकते हैं जो निर्भय हैं,** जो भयभीत हैं वे नहीं जुड़ सकते हैं। जब भी आप मागेंगे तभी प्राण कँप जायेंगे और भयभीत हो जायेंगे और डर पकड़ जायगा कि पता नहीं—मिलेगा या नहीं। यह जो डर है यह भी मन को बन्द कर देगा। और यह जो डर है वह परमात्मा और स्वयं के बीच फासला पैदा कर देता है। परमात्मा के पास इसलिए जो माँगने जाता है वह अपने हाथ से ही खोने का कारण बन जाता है।

तीसरी बात भी ख्याल रखें कि **जब भी हम माँगते हैं तो हम गलत ही माँगते हैं।** हम सही माँग ही नहीं सकते। हम सही इसलिए माँग नहीं सकते कि हमें सही का कुछ पता ही नहीं है। हम सही इसलिए नहीं माँग सकते हैं कि हम खुद सही नहीं हैं और यह और मजे की बात है कि जो सही है उसे माँगना नहीं पड़ता है, क्योंकि जो सही है उसे तत्काल मिलना शुरू हो जाता है। जो ठीक है उस पर सम्पदा बरसने लगती है, जीवन के सब रूपों में। जो गलत है वही वंचित रह जाता और वही माँगता है और उसकी माँग भी गलत ही होगी। वह सही माँग नहीं सकता है। गलत आदमी गलत ही माँग सकता है।

एक छोटी-सी घटना से आपको समझाऊँ। विवेकानन्द के पिता मर गये। कर्ज छोड़ गये बहुत। चुकाने का कोई उपाय नहीं। खाने पीने तक की सुविधा नहीं। घर में इतना मुश्किल से जुटा पाते कि एक बार एक जून का भोजन हो पाये। और दो थे घर में, एक माँ थी और विवेकानन्द थे। तो माँ उन्हें खिला दे और खुद भूखी रह जाय पानी पीकर। तो विवेकानन्द उससे कहते कि आज फलाँ मित्र के घर में निमन्त्रण है, मैं वहाँ जा रहा हूँ। सिर्फ इसलिए कि वह खाना खा लेगी। और वह सड़कों पर चक्कर लगाकर वापस बड़ी खुशी से घर लौटे और उन भोजनों की चर्चा करने लगे जो उन्होंने किये नहीं। कोई मित्र के घर निमन्त्रण था नहीं। लेकिन, यह कितने दिन चलता! रामकृष्ण को खबर लगी तो रामकृष्ण ने कहा तू कैसा पागल है! तू जा और काली से माँग ले। माँग क्यों नहीं लेता है! जो चाहिए, मिल जायगा, माँग ले। विवेकानन्द को रामकृष्ण ने वस्तुतः धक्का दे दिया मन्दिर में कि तू जा और माँ से माँग ले। क्षण बीते, घड़ी बीती। रामकृष्ण बार-बार झाँककर भीतर देखें विवेकानन्द खड़े हैं। वे बड़े हैरान हो रहे हैं कि इतनी-सी बात माँगनी है, इतनी देर! फिर विवेकानन्द लौटे तो रामकृष्ण ने कहा माँगा? तो विवेकानन्दने कहा अरे! काली के सामने पहुंचा तो माँग की बात ही भूल गयी तो रामकृष्ण ने कहा, पागल भेजा तुझे माँगने को था; फिर से जा। विवेकानन्द फिर गये, और फिर घड़ी बीती, रामकृष्ण दरवाजे पर बैठे राह देखते रहे और विवेकानन्द फिर वहाँ से आनन्दित लौटे। रामकृष्णने कहा, लगता है कि माँग पूरी हो गयी। मिल गया? माँग लिया? विवेकानन्द ने कहा, कौन सी माँग? रामकृष्ण ने कहा, तू पागल तो नहीं है। तुझे माँगने भेजा था। और विवेकानन्द ने कहा, बड़ी मुश्किल मालूम होती है। जब तक मैं बाहर रहता हूँ तब तक तो माँग का ख्याल रहता है जैसे ही मन्दिर में प्रविष्ट होता हूँ और काली की मूर्ति सामने आती है तो मैं खुद ही सम्राट् हो जाता हूँ। उनकी मौजूदगी में माँगने का सवाल ही नहीं उठता, गुंजाइश भी नहीं रह जाती। और तीसरी बार भी यही

हुआ। रामकृष्ण ने कहा कैसा है तू! विवेकानन्द ने कहा कि आप क्यों मेरी नाहक परीक्षा ले रहे हैं। मैं जानता हूँ कि अगर माँग लूँ तो यह द्वार मेरे लिए सदा के लिए बन्द हो जायेंगे।

यह द्वार तो उन्हीं के लिए खुले हैं जो माँगते नहीं, और फिर जो उसकी मर्जी। जो ठीक है, वही हो रहा है। जो होना चाहिए, वही हो रहा है। उससे अन्यथा चाहने का कोई कारण भी नहीं।

कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं कि **बिना माँगे यज्ञ की भाँति जो जीवन को जीता, यज्ञरूपी कर्म में जो प्रविष्ट होता, दिव्य शक्तियाँ उसे बिना माँगे सब दे जाती हैं।** लेकिन हमें अपने पर जरूरत से ज्यादा खतरनाक भरोसा है। या तो हम कोशिश करते हैं पा लें तब हमारा कर्म यज्ञरूपी नहीं हो पाता और या फिर हम माँगते हैं कि मिल जाय, तब आकांक्षा से दूषित हो जाता है और दिव्य शक्तियों से हमारे सम्बन्ध टूट जाते हैं। इसलिए ध्यान रखें कि जो प्रार्थना भी माँग के साथ जुड़ी है वह प्रार्थना नहीं रह जाती। जिस प्रार्थना में भी रंचमात्र माँग है वह प्रार्थना प्रार्थना नहीं रह गयी। जो प्रार्थना निपट प्रार्थना है जिसमें कोई माँग नहीं, सिर्फ धन्यवाद है उसका, जो मिला है। उसकी माँग नहीं, जो मिलना चाहिए।

इसलिए **ठीक प्रार्थना सदा ही धन्यवाद होता है। और गलत प्रार्थना ही सदा ही माँग होती है।** मन्दिर में ठीक आदमी वही गया है प्रार्थना करने जो धन्यवाद करने गया है कि परमात्मा ने कितना दिया है! और गलत आदमी वह है जो माँगने गया है—फलाँ चीज नहीं है, फलाँ चीज नहीं दी। यह और मिलनी चाहिए। **माँग प्रार्थना में जहर हो जाती है, धन्यवाद प्रार्थना में अमृत बन जाता है।** यज्ञरूपी कर्म—धन्यवाद पूर्वक परमात्मा जो कर रहा है, जो करा रहा है उसकी परम स्वीकृति, टोटल एक्सेप्टिबिलिटी है। और तब बड़े रहस्य की बात है कि सब मिल जाता है।

'सीक यी फर्स्ट द किंगडम ऑफ गॉड देन ऑल एल्स शैल बी ऐडेड अन टु यू' 'पहले खोज लो परमात्मा का राज्य और फिर सब उसके पीछे चला आता है।' जिसे कभी नहीं माँगा वह सब मिल जाता है। **जिसे माँग-माँगकर भी कभी नहीं पाया था वह बिन माँगे मिल जाता है।** यह तो पहला हिस्सा प्रार्थना करते समय, मन्दिर में प्रवेश करते समय ख्याल रखें, साधु-संत के पास जाते समय ख्याल में रखें। और यह भी ख्याल में रखें कि जो साधु-संत प्रलोभन देता हो कि आओ मैं यह दे दूँगा, वहाँ भूलकर भी मत जाना। क्योंकि वहाँ प्रार्थना घटित ही नहीं हो सकती। वहाँ प्रार्थना असंभव है।

और चूँकि लोग माँगते हैं, इसलिए देनेवाले साधु पैदा हो गये हैं। वह

आपने पैदा किये हैं, आप नौकरी माँगते हैं तो नौकरी देनेवाले साधु हैं। धन माँगते हैं तो धन देनेवाले साधु हैं। स्वास्थ्य माँगते हैं तो स्वास्थ्य देनेवाले साधु हैं। राख माँगते हैं तो राख देनेवाले साधु हैं। तावीज माँगते हैं तो तावीज देनेवाले साधु हैं। जो जो बेवकूफी हम माँगते हैं उसे सप्लाई तो किसी को करना चाहिए! परमात्मा नहीं करता तो दूसरे लोग करते हैं। लेकिन, ध्यान रखें वहाँ धर्म का फूल कभी नहीं खिलेगा, वहाँ प्रार्थना प्राणों से कभी नहीं निकलेगी। और जो माँग गूँजेगी बाजार में वह भी बाजार का ही हिस्सा है। धर्म का उससे कोई लेना-देना नहीं है। यह पहला सूत्र है।

इस श्लोक का दूसरा हिस्सा है जिसमें कृष्ण और भी गहरी बात कहते हैं। वह यह कहते हैं कि यज्ञरूपी कर्म से जो मिले उसे बाँट दो, उसमें दूसरों को साझीदार बना लो! क्यों? उसे शेयर करो! क्यों? यह भी परम नियमों में से एक नियम है जीवन का कि जितना हम अपने आनन्द को बाँटते हैं उतना वह बढ़ता है। और जितना उसे रोकते हैं उतना सड़ता है। जितना हम अपने आनन्द में दूसरों को सहभागी बनाते हैं, शेयरिंग करते हैं, उतना वह अनन्त गुना होता चला जाता है। और जितना हम कंजूस की तरह अपने आनन्द को तिजोरी में बन्द कर लेते हैं तो आखिर में हम पाते हैं कि वहाँ सिर्फ सड़ांध और बदबू रह गयी और कुछ भी नहीं बचा है।

आनन्द का जीवन विस्तार में है, फैलाव में है। और ख्याल रखें जब आप दुःख में होते हैं तो सिकुड़ जाते हैं। दुःख में मन करता है कि किसी कोने में दबकर बैठ जायँ, कोई मिले न, कोई देखे न, कोई बात न करे। बहुत दुःखी हों तो मन होता है कि मर ही जायँ। उसका मतलब यह है कि ऐसे कोने में चले जायँ जहाँ से कोई सम्बन्ध जिन्दगी से न रह जाय। लेकिन जब भी आप आनन्द में होते हैं तब आप कोने में नहीं बैठना चाहते हैं, तब आप चाहते हैं मित्र के पास, प्रियजनों के पास जायँ।

कभी आपने ख्याल किया कि बुद्ध जब दुःखी थे तो जंगल में गये और जब आनन्द से भर गये तो शहर में वापिस लौट आये। महावीर जब दुःखी थे तो पहाड़ों में गये और जब आनन्द भर गया जीवन में तो वापिस भीड़ में लौट आये। मुहम्मद जब दुःखी हैं तो पहाड़ पर और जब आनन्द से भर गये तो जिन्दगी में बजार में। **जहाँ भी आनन्द घटित होगा, आनन्द को बाँटना पड़ेगा।** वैसे ही जैसे कि जब बादल पानी से भर जाते हैं तो बरसते हैं, ऐसे ही **जब आनन्द प्राणों में भरता है तो बरसता है।** बरसना ही चाहिए। अगर न बरसा तो रोग बन जायगा।

इसलिए कृष्ण दूसरा सूत्र कहते हैं कि अर्जुन! जब यज्ञरूपी कर्म से दिव्य

शक्तियाँ जब वह सब देने लगें जिसकी कि प्राणों में सदा से प्यास और माँग रही लेकिन कभी मिला नहीं और अब बिना माँगे मिल गया है तो कंजूस मत हो जाना। उसे रोक मत लेना, उसे बाँट देना। क्योंकि, जितना तुम बाँटोगे उतना ही वह बढ़ता चला जाता है।

आनन्द का यह नियम ख्याल में आ जाना चाहिए कि वह बाँटने से बढ़ता है। कबीर ने कहा है—'दोनों हाथ उलीचिये'। आनन्द को ऐसे ही उलीचना चाहिए जैसे नाव चलती हो और पानी नाव में भर जाय तब दोनों हाथों से आदमी उसे उलीचने लगते हैं। आनन्द को भी ऐसे ही दोनों हाथ उलीचिये। उसे बाँट दीजिये, उसे रोकिये मत। उसे रोका कि वह सड़ा। वही नहीं सड़ेगा बल्कि उसे रोकने से वह जो द्वार खुला था, अन-माँगा मिलने का, वह भी बन्द हो जायगा। क्योंकि, वह द्वार उसी के लिए खुला रह सकता है जो बिना माँगे खुद भी दे।

आप जानते हैं कि घर में अगर दो खिड़कियाँ हों तो आप एक नहीं खोलते। एक खोलने से कुछ मतलब नहीं होता। क्रॉस व्हेन्टिलेशन (आमने सामने खुला स्थान) चाहिए। एक खिड़की खोलते हैं तो उससे हवा नहीं आती है, जब तक कि दूसरी खिड़की न खोलें, जिससे हवा बाहर जाय। एक खिड़की खोले बैठे रहें तो कमरे में हवा नहीं आयेगी। खिड़की तो खुली है लेकिन हवा नहीं आयेगी कमरे में। ताजी हवाएँ कमरे में नहीं भरेंगी, क्योंकि कमरे से हवाओं को निकलने का कोई मार्ग ही नहीं है। इसलिए इसके पहले कि आप हवाओं को निमन्त्रित करें उस द्वार को भी खोल दें जहाँ से हवाएँ आयें और जायें भी। **आनन्द भी क्रॉस-व्हेन्टिलेशन है। इधर से परमात्मा की तरफ से आनन्द मिलना शुरू हो तो दूसरी तरफ से बाँट दें।** और जितना बाँटेंगे उतना ही परमात्मा की तरफ से आनन्द बढ़ता चला जाता है। जितने रिक्त होंगे, खाली होंगे, उतने भर दिये जायेंगे।

इसलिए जीसस कहते हैं जिसके पास हिम्मत नहीं है देने की, वह पाने का पात्र भी नहीं है। जिसमें देने की हिम्मत है वह पाने का भी पात्र है। हम सिर्फ पाना चाहते हैं और देना कभी नहीं चाहते। इसलिए कृष्ण ऐसे आदमी को कहते हैं कि वह चोर है। कृष्ण ने यह बात जो कही कि वह आदमी चोर है जो परमात्मा से, जीवन से, जगत से जो भी मिल रहा है उसे रोक लेता है। अपने तईं निजी अहंकार के आस-पास, इर्दगिर्द सब इकट्ठा कर लेता है वह चोर है। प्रूधों (Proudhon) ने तो बहुत बाद में कहा कि लोग चोर हैं। मार्क्स ने तो बहुत बाद में कहा कि लोग चोर हैं। कृष्ण ने तो सबसे पहले कहा कि लोग चोर हैं, अगर वे शेयर नहीं करते, अगर वे बाँटते नहीं। अगर वे आनन्द में

दूसरे को साझीदार नहीं बनाते तो वे चोर हैं। लेकिन कृष्ण जब लोगों को चोर कहते हैं तो बहुत और मतलब है। और जब मार्क्स और प्रूधों लोगों को चोर कहते हैं तो मतलब और है। जब मार्क्स और प्रूधों कहते हैं कि लोग चोर हैं तो उनका मतलब यह है कि उनकी गरदन दबा दो, छीन लो जो उनके पास है, बाँट दो जो उनके पास है।

लेकिन कृष्ण जब कहते हैं कि चोर हो तुम, तब वह यह नहीं कहते कि कोई तुम्हारी गरदन दबा दे और सब छीन ले। वह यह कहते हैं कि तुम्हीं जानो कि तुम अपने ही दुश्मन हो, तुम्हें और बहुत मिल सकता था लेकिन तुम रोककर बैठ गये हो और उस बड़े मिलने से वंचित रह गये हो। अतः तुम बाँट दो ताकि तुम्हें और बड़ा मिलता चला जाय। **तुम जितना बाँट सकोगे उतने बड़े को पाने के लिए निरन्तर अधिकारी और हकदार होते चले जाओगे।** और अगर कृष्ण कहते हैं कि ऐसा आदमी गलत कर रहा है, तो उनका मतलब यही है कि वह दूसरे के लिए तो गलत कर रहा है वह ठीक ही है। लेकिन, वह गौण है। वह अपने लिए ही गलत कर रहा है। वह आदमी आत्मघाती है। उसको एक किरण मिली थी लेकिन उसने दरवाजा बन्द कर लिया कि कहीं वह निकल न जाय। एक किरण उतरी आपके घर में, आपने जल्दी से दरवाजा बन्द कर लिया कि कहीं वह किरण निकलकर पड़ोसी के घर में न चली जाय। लेकिन आपको पता नहीं कि जब आप दरवाजा बन्द कर रहे हैं तभी वह किरण मर गयी और जिस दरवाजे से वह आयी थी उसको ही आपने बन्द कर दिया अब आने का भी द्वार बन्द हो गया। और किरणें बचतीं नहीं, आती रहें तो ही बचती हैं।

यह बात भी ख्याल में ले लें कि आनन्द कोई ऐसी चीज नहीं कि मिल गया तो मिल ही गया। आनन्द ऐसी चीज है कि आता ही रहे तो ही रहता है। आनन्द एक बहाव है, प्रवाह है, एक धारा है। ऐसा नहीं कि गंगा आ गयी तो आ ही गयी। आती ही रहे रोज तो ही ठीक है। अगर एक दिन आयी और फिर बस आ गयी और दूसरे दिन से धारा बन्द हो जाय तो सिर्फ डबरा बन जायगा, तब गंगा नहीं होगी। उस डबरे में गन्दगी होगी, बास उठेगी, उसके पास रहना मुश्किल हो जायगा। गंगा आये और जाये, आती रहे और जाती रहे। रुके ना, ठहरे ना। ऐसे ही जिस दिन कोई व्यक्ति अपने पूरे जीवन को परमात्मा को समर्पित करके जीता है उसके जीवन में आनन्द की गंगा आती रहती है और बहती रहती है। आती रहती है और बहती रहती है। उसकी जिन्दगी एक बहाव, एक सरिता की भाँति है—जीवित। रुके हुए सरोवर की भाँति नहीं—घेरो में बन्द रुकी हुई।

और कभी आपने ख्याल किया कि कहाँ से लाती है यह गंगा पानी और कहाँ ले जाती है? कभी आपने इस वर्तुल का ख्याल किया कि गंगा जहाँ से

लाती है, वहीं लौटा देती है। सागर की तरफ भागी चली जा रही है गंगा। सागर में गिरेगी—सूरज की किरणों पर चढ़ेगी, बादलों में उठेगी, हिमालय पर बरसेगी। फिर भागेगी। फिर सागर, फिर सूरज की किरणों पर चढ़ना, फिर बादल, फिर पहाड़, फिर मैदान, फिर सागर। एक वर्तुल है, एक सर्कल है।

जीवन की सभी गतियाँ सरक्युलर हैं। आनन्द की भी वैसी ही गति है। परमात्मा से ही वह आता है, परमात्मा में ही जाता है। आप में आये तो तत्काल उसे आस-पास परमात्मा का जो रूप फैला है, उसे बाँट दे--ताकि वह सागर तक फिर पहुँच जाय। फिर बादलो में उठे, फिर आप में गिरे। अगर आपने कहा, नहीं। पता नहीं फिर आया कि नहीं आया। रोक लें। **बस उस रोकने से आदमी चोर हो जाता है।** सब तरह के आनन्द में जब भी रोकने का ख्याल पैदा होता है तभी चोरी (Theft) पैदा हो जाती है। **और यह चोरी परमात्मा के खिलाफ है। जहाँ से आया है वहाँ जाने दें। आप से गुजरा यही क्या कम है?** आप से गुजरता रहेगा यही क्या कम है? और सतत गुजरता रहे यही जीवन की धन्यता है!

प्रश्न : आचार्यश्री! तेरहवें हिस्से के पहले श्लोक में कहा गया है, यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाला श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाता है। कृपया 'यज्ञ से बचे हुए अन्न' का अर्थ स्पष्ट करें।

आचार्यश्री : साधारणतः तो यज्ञ से बचे हुए अन्न को अगर हम शाब्दिक अर्थों में लें, जैसा कि भूल से लिया जाता रहा है तो यज्ञ की प्रक्रिया में जो सामग्री है उसे सबको बाँट देने के बाद जो बच रहा उसे लेने वाला श्रेष्ठ पुरुष है। और जो पहले ही ले ले और फिर जो बच रहे उसे बाँट दे वह निकृष्ट पुरुष है। घर फिर मेहमान आये तो पहले घर के लोग खा लें और फिर मेहमान को जो बच रहे, दे दे तो वह निकृष्ट परिवार है। मेहमान को पहले दे दे फिर जो बच रहे उसे ही खाकर संतोष कर ले। अगर कुछ भी न बच रहे तो उसको ही भोजन हुआ ऐसा मानकर सो जाय तो वह श्रेष्ठ पुरुष है, वह श्रेष्ठ परिवार है। सामान्य अर्थ तो यह है। लेकिन और गहरे में जिस यज्ञ का मैं अर्थ कर रहा हूँ वह ऐसा कर्म है जो परमात्मा को समर्पित है। ऐसे कर्म से जो भी उपलब्ध हो उसे पहले बाँट देवे और जब कोई लेने वाला न बचे तो जो बच रहे उसको अपने लिए स्वीकार कर लेवे तो ऐसा पुरुष श्रेष्ठ है।

मुहम्मद की जिन्दगी में इस सूत्र की सीधी व्याख्या है। और कई बार बड़ी मजेदार बात होती है। जैसे, कृष्ण का सूत्र और मुहम्मद के जीवन में व्याख्या होती है! जिन्दगी इतनी ही रहस्य-पूर्ण है। लेकिन हिन्दू-मुसलमान जो पागलों के गिरोह हैं वह नहीं समझ पाते। मुहम्मद ने कह रखा था अपनी पत्नी को,

अपने परिवार के लोगों को, अपने मित्रों को, प्रेम करने वालों को कि अगर तुम घर में भोजन बनाओ तो जहाँ तक उसकी सुगन्ध पहुँचे समझो वहाँ तक निमन्त्रण हो गया। निमन्त्रण देने तुम गये नहीं लेकिन **तुम्हारे घर में बने हुए भोजन की सुगन्ध जहाँ तक पहुँच गयी वहाँ तक निमन्त्रण हो गया।** उन सबको खबर कर आना कि आ जाओ। यह जो सुगन्ध भी पहुँचे तो निमन्त्रण हो जाय। तो पहले उन सब को खिला देना फिर बच रहे तो खुद खा लेना। जिसने अपने जीवन को ही यज्ञ बना लिया है वह जीवन में जो भी मिले चाहे ज्ञान, चाहे धन, चाहे अन्न, चाहे शक्ति, जो भी जीवन में मिले उसे पहले बाँट देता है और जब कोई और लेने वाला नहीं बचता तो जो आखरी हिस्सा बच जाय, यदि बच जाय तो वह अपने लिए उपयोग कर लेता है। ऐसा व्यक्तित्व श्रेष्ठ है।

लेकिन हमारा सारा व्यक्तित्व निकृष्ट है। अगर कभी हम बाँटते हैं तो तभी बाँटते हैं जब वह हमारे काम का नहीं होता हमारे लिए। जब हमारे लिए किसी अर्थ का नहीं होता और सिर्फ बोझ बनता है तब हम देते हैं। ठीक है, न देने से तो अच्छा ही है। लेकिन निकृष्ट दान है। न देने से तो अच्छा है। अदान से तो बेहतर है, क्योंकि हो सकता है किसी के काम पड़ जाय। लेकिन, दान से जो व्यक्तित्व का फूल खिलता वह इससे खिलने वाला नहीं है। क्योंकि, आप सिर्फ कचरा फेंक रहे हैं। आप कुछ भी मूल्यवान नहीं दे रहे हैं। देने में आपके भीतर कहीं भी आपको अपने लिए कटौती नहीं करनी पड़ रही है। देने में आपके भीतर कहीं भी कोई प्रेम नहीं है। यह अर्थ है। अगर कोई व्यक्ति इसका स्मरण रखे तो धीरे-धीरे हैरान होगा कि जो हम सोचते हैं कि बचा लेंगे और उससे आनन्द पायेंगे तो हमें कुछ पता ही नहीं है। एक बार उसे देकर भी देखें और हैरान होंगे कि चीजें बचाने से उतना आनन्द कभी नहीं देतीं, जितना देने से दे जाती हैं। मगर हमें पता नहीं चलता क्योंकि हमने कभी इसका कोई प्रयोग नहीं किया है। जीवन में वह हमारे लिए अपरिचित गली है उस रास्ते हम कभी गुजरे नहीं।

इस जीवन में जो भी श्रेष्ठतम अनुभव है वे सभी किसी न किसी अर्थों में देने से पैदा होते हैं। प्रेम का जो अनुभव है, वह देने का अनुभव है। केवल वही लोग प्रेम अनुभव कर पाते हैं जो दे सकते हैं। अन्यथा अनुभव नहीं कर पाते। प्रार्थना का अनुभव है, वह देने का अनुभव है। वे ही लोग अनुभव कर पाते हैं जो अपने को परमात्मा के चरणों में दे पाते हैं। वैज्ञानिक को एक आनन्द की प्रतीति होती है, क्योंकि वह अपने समस्त जीवन को विज्ञान के लिए दे पाता है। एक चित्रकार को एक आनन्द का अनुभव होता है, क्योंकि वह

अपने समस्त जीवन को कला को दे पाता है। एक संगीतज्ञ को आनन्द का अनुभव होता है, क्योंकि वह अपना समस्त, सब कुछ संगीत को दे पाता है।

जहाँ भी इस जगत में आनन्द का अनुभव है वहाँ पीछे सदा दान खड़ा ही रहता है, चाहे वह दान दिखायी पड़ता हो या न दिखायी पड़ता हो। इसलिए कृष्ण कहते हैं श्रेष्ठ है वह पुरुष जो पहले बाँट देता, है फिर जो बच जाता है उसे ही अपना भाग मान लेता है **लेकिन सदा ही बहुत बच जाता है उनके पास जो बहुत देने में समर्थ हैं।** और जो कुछ रोकने में समर्थ हैं उनके पास कभी कुछ भी नहीं बचता है। असल में वह रोकने में इतने समर्थ हैं कि जब खुद को भी देने का वक्त आता है तब वह नहीं दे पाते। जो आदमी रोकने में इतना समर्थ है कि कभी किसी को कुछ नहीं दिया, पक्का समझना कि यह आदमी अपने को भी उसमें से नहीं दे पायेगा। इसको देने की आदत ही नहीं है। यह अपने को भी वंचित रख लेगा। दूसरे को भी वंचित रख लेगा। यह सिर्फ चीज को सँभाले हुए मर जायगा, यह पागल है यह विक्षिप्त है, ऑबसेस्ड (ग्रसित) है। इस तरह के व्यक्ति के लिए वे कह रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति श्रेष्ठ श्रेष्ठत्व की गरिमापूर्ण जीवन की यात्रा पर नहीं निकल पाता है। व्यक्ति का जीवन यज्ञ नहीं बन पाता।

प्रश्न : आचार्यश्री, एक मित्र पूछते हैं कि आपने अभी कहा कि आनन्द आदि जो मिले उसे बाँट देना चाहिए। तो उसी तरह क्या दुःख को भी बाँट देना चाहिए? इस पर आप का क्या ख्याल है?

आचार्यश्री : दुःख बाँटा नहीं जा सकता। दुःख बाँटा नहीं जा सकता। जैसे आनन्द रोकने से रोका नहीं जा सकता, सिर्फ चेष्टा की जा सकती है, उसी प्रकार दुःख बाँटा नहीं जा सकता है। लेकिन हम दुःख को बाँटने की कोशिश करते हैं और आनन्द जो कि बाँटा ही जा सकता है उसे हम रोकने की कोशिश करते हैं। कैसे करते हैं? एक तो दुःखी आदमी दूसरे को दुःखी करना शुरू कर देता है। हजार तरकीबें निकालता है दूसरे को दुःखी करने की। असल में उसे किसी को सुखी देखकर बड़ी बेचैनी और तकलीफ होने लगती है। अगर दुनिया सुखी है तो उसकी पीड़ा हजार गुना अधिक हो जाती है। उसका दुःख भारी हो जाता है। तो दुःखी आदमी दूसरे को दुःखी करना शुरू कर देता है। दुःखी देखने की आकांक्षा करनी शुरू कर देता है। दूसरों को दुःखी देखकर थोड़ा प्रसन्न होने लगता है। और दुःखी आदमी दूसरों से निरंतर अपने दुःख की बात करके भी उनको उदास करना चाहते हैं, दुःखीं करना चाहते हैं। व्यवहार भी करता है, अगर एक दुःखी आदमी, तो वह दूसरे के साथ ज्यादा क्रोधित होगा, अगर आनन्दित है तो ज्यादा क्रोधित नहीं होगा। आनन्दित आदमी क्रोधित हो नहीं सकता, दुःखी आदमी क्रोधित हो सकता है।

दुःखी आदमी दूसरे को दबाने, सताने के हजार उपाय करने लगेगा और

दुःख की चर्चा तो करेगा ही, जो भी मिलेगा उससे दुःख की चर्चा करेगा और अगर आपके चेहरे पर उसकी दुःख की चर्चा से कोई कालिमा नहीं आयी तो दुःखी होगा। अगर कालिमा आयी और आप भी उदास हुए तो उसका चित्त हल्का होगा। दुःखी आदमी दुःख बाँटने की कोशिश करता है। लेकिन, दुःख बाँटा नहीं जा सकता और जो बाँटता है उसका भी उसी तरह दुःख बढ़ जाता है जैसा आनन्द बाँटने से बढ़ जाता है। इसको भी समझ लेना जरूरी है।

बाँटना बहुत मुश्किल प्रक्रिया है, क्यों मुश्किल प्रक्रिया है? आँतरिक स्वभाव से (इण्ट्रेन्जिकली) मुश्किल है। आनंद इसलिए बाँटा जा सकता है कि दूसरे आनंद लेने को तैयार हैं। दुःख लेने को कोई तैयार नहीं है, इसलिए नहीं बाँटा जा सकता। आखिर बाँटियेगा किसी को तो वह तैयार भी होना चाहिए न लेने को! तभी बात सफल है। बाँटने में दूसरा भी तो मौजूद है, आप अकेले नहीं हैं। **आनंद बाँटा जा सकता है क्योंकि दूसरे उसे लेने को तैयार हैं। दुःख बाँटा नहीं जा सकता क्योंकि कोई उसे लेने को तैयार नहीं है।** जिसके दरवाजे पर जायेंगे वही दरवाजा बंद कर लेगा। आप और दुःखी होकर वापस लौटेंगे। हम गये थे दान करने और दरवाजा बंद कर लिया। जिसके भिक्षा-पात्र में दुःख डालेंगे वह भिक्षा-पात्र छिपा कर भाग खड़ा होगा। आप और दुःखी होकर लौटेंगे।

दुःख बाँटा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई दुःख लेने को तैयार नहीं है। दुःख ऐसे ही इतना ज्यादा है कि अब और आपसे कौन लेने को तैयार होगा? लोग आनंद लेने को तैयार हैं, क्योंकि लोग दुःखी हैं। **लोग दुःख लेने को तैयार नहीं हैं; क्योंकि लोग दुःखी पहले से ही काफी हैं।** लेकिन दुःख देने की कोशिश चलती है और देने में आपका दुःख उसी तरह बढ़ेगा जिस तरह आनंद देने में बढ़ता है। लेकिन, बढ़ने की प्रक्रिया दोनों की अलग होगी। परिणाम एक होगा।

आनंद इसलिए बढ़ेगा कि जैसे ही आप किसी को आनंद देते हैं, आपकी आत्मा विस्तीर्ण होती है। असल में दूसरे को आनंद देने की कल्पना करने से भी आप बड़े होते हैं, छोटे नहीं रह जाते। असल में **दूसरे को आनंदित देखना ही आत्मा का फैलाव है।** बहुत कठिन है, दूसरे के आनंद में आनंदित होना बड़ी कठिन बात है। दूसरे के दुःख में दुःखी होना उतनी कठिन बात नहीं है। दूसरे के आनंद में आनंदित होना बड़ी कठिन बात है। किसी के घर में आग लग गयी है तो आप दुःखी तो हो पाते हैं लेकिन आपके बगल में किसी ने एक महल खड़ा कर लिया हो तो सुखी नहीं हो पाते। किसी की पत्नी मर गयी है तो आप दुःखी हो पाते हैं लेकिन किसी को सुन्दर पत्नी मिल गयी है तो आप फिर भी दुःखी होते हैं, सुखी नहीं हो पाते।

दूसरे के सुख में सुख अनुभव करना बहुत बड़ा आत्मिक फैलाव है। लेकिन इससे भी बड़ा फैलाव तो तब होगा जब हम **दूसरे को आनंद देने में भी समर्थ** होंगे। यह तो दूसरे का अपना आनंद है। उसमें हम आनंदित हों तो भी आत्मा बड़ी होती है, दूसरे को आनंद देना तो और भी बड़ी घटना है—जिसको कहें 'एक्सपेन्शन आफ कान्शसनेस, चेतना का विस्तार है **चेतना का विस्तार होता है आनंद को देने से और जब चेतना का विस्तार होता है तो आपका परमात्मा से आनंद लेने का आयतन बढ़ जाता है।** जितनी बड़ी आत्मा है आपके पास उतनी ही परमात्मा की वर्षा आप पर हो सकती है। छोटी सी आत्मा है, छोटा सा पात्र है तो उतनी वर्षा होती है, आत्मा बड़ी हो जाती है तो उतना बड़ा। **जिस दिन किसी के पास पूरे ब्रह्मांड जैसी आत्मा हो जाती है, ब्रह्म का सारा आनंद उस पर बरस पड़ता है।** तो पात्रता चाहिए।

लेकिन ध्यान रहे, दुःख में इसका उलटा होता है। जब आप किसी को दुःख देना चाहते हैं तो आप और छोटे हो जाते हैं आपने कभी दुःख दिया हो तो आपको पता चलेगा एक संकोच का। किसी फिजिकल (भौतिक) संकोच का पता चलता है। भीतर कुछ सिकुड़ जाता है। किसी को मारें एक चाँटा तो आपको धीरे पता लगेगा कोई चीज भीतर सिकुड़ गयी। किसी के घाव पर मलहम पट्टी रखें तो भौतिक रूप से आपको अनुभव होगा कि भीतर भीतर कुछ चीज फैल गयी—समथिंग एक्सपेन्डेड। रास्ते पर गिर पड़े किसी व्यक्ति को उठायें और भीतर देखें तो आपको पता लगेगा कोई चीज बड़ी हो गयी। किसी की छाती में छूरा भोंक दें तो आपको पता लगेगा भीतर कोई चीज एकदम छोटी हो गयी।

दुःख जब आप दूसरे को देते हैं तब आप एकदम सिकुड़ जाते हैं और जितने सिकुड़ जाते हैं उतना ही आनंद पाने में असमर्थ हो जाते हैं। अब यह बड़े मजे की बात है कि आनंद के लिए बड़ा हृदय चाहिए और दुःख के लिए छोटा हृदय चाहिए। **दुःख छोटे हृदय को पात्र बनाता है और आनंद बड़े हृदय को पात्र बनाता है।** दुःख चूहों जैसा है छोटी-छोटी पोलों में प्रवेश करता है। जितना छोटा हृदय होता है दुःख उतने जल्दी प्रवेश करता है। क्योंकि, जितना छोटा हृदय रहता है उतना ही कम प्रकाशित होता है। तो वहाँ प्रकाश मुश्किल है पहुँचना। अंधेरा, गंदगी, वह सब वहाँ होगी।

और जब आप दूसरे को दुख देने चले जाते हैं तो धीरे धीरे हृदय सिकुड़-कर पत्थर की भाँति कड़ा हो जाता है। हम ऐसा ही नहीं कहते हैं भाषा में कि फला आदमी पाषाण हृदय है, हम ऐसे ही नहीं कहते पत्थर जैसा उसका हृदय है क्योंकि पत्थर जैसे हृदय में क्या बात होती है? पत्थर में बिल्कुल ही जगह

नहीं होती प्रवेश की। वह ठोस होता है, उसमें कहीं से कोई चीज प्रवेश नहीं कर सकती। **और दूसरे को दुःख देने में हृदय पत्थर जैसा हो ही जाता है।** दूसरे को दुख देने के लिए पत्थर जैसा होना जरूरी है, अन्यथा दूसरे को दुःख नहीं दे सकते। और जितने पथरीले हो जायेंगे उतने ही आनंद को पाने की क्षमता क्षीण हो जायेगी।

दुःख है क्या? आनंद को पाने की जो अक्षमता है आनंद को पाने की की जो इनकेपैसिटी है, जो अपात्रता है वही दुःख है। जितना हम कम आनंद को पा सकते हैं, उतने दुःखी हो जाते हैं। और जितना हम दुःख बाँटते हैं उतने ही दुःखी होते चले जाते हैं। क्योंकि, कोई दुःख लेता नहीं। दुःख लौट-लौट कर आ जाता है। हर जगह द्वार बंद मिलते हैं। हृदय क्रोधित होता है और दुःख लौट आता है। हृदय क्रोधित होता है और हम बाँटने जाते हैं। इस तरह दरवाजे बंद होते चले जाते हैं। आखिर में दुःखी आदमी पाता है 'आइलेन्ड' (द्वीप) बन गया, अकेला रह गया, 'लोनली' हो गया। कोई नहीं है उसका संगी साथी। दुःख में कोई मित्र होता है? दुःख में कोई संगी-साथी होता है? दुःख में आप अकेले हो जाते हैं।

एक पंक्ति मुझे याद आती है बचपन में पढ़ी हुई। एक आंग्ल कवि की पंक्ति है: 'रोओ और तुम अकेले रोते हो' (वीप एन्ड यू वीप एलोन) हँसो और सारा जगत तुम्हारे साथ हँसता है (लाफ एन्ड द होल वर्ल्ड विल लाफ विथ यू)। देखें करके। **रोओ और तुम अकेले रोते हो। हँसो और सारा जगत तुम्हारे साथ हँसता है।** जितना दुःखी आदमी उतना अकेला रह जाता है। जितना आनंदित आदमी उतना ही सबके साथ एक हो जाता है। इसलिए दुःख बाँटा नहीं जा सकता लेकिन बाँटा जाता है। आनंद बाँटा जा सकता है, लेकिन बाँटा नहीं जाता है। **आनंद को जो बाँटता है उसका आनंद बढ़ जाता है, दुःख जो बाँटता है उसका दुःख बढ़ जाता है।**

अन्नाद्‌ भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्‌ भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्‌भवः॥ १४॥

अर्थ : "क्योंकि संपूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और यह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।"

आचार्यश्री : इस सूत्र को समझने के लिए कुछ और बातें भी भूमिका के रूप में समझनी जरूरी हैं। पूर्व और पश्चिम के दृष्टिकोण में एक बुनियादी फर्क है और चूँकि आज सारी दुनिया ही पश्चिम के दृष्टिकोण से प्रभावित है, पूर्व भी, इसलिए इस सूत्र को समझना बहुत कठिन हो गया।

पूर्व ने सदा ही प्रकृति को और मनुष्य को दुश्मन की तरह नहीं, मित्र की

तरह लिया। प्रकृति को हमने कहा 'माँ', पृथ्वी को हमने कहा 'माता' आकाश को हमने कहा 'पिता' यह सिर्फ काव्य नहीं है, यह एक दृष्टि है। जिसमें हम जीवन को समग्रीभूत एक परिवार मानते हैं। इस सारे विश्व को एक परिवार मानते हैं, इसलिए हमने कभी प्रकृति को जीतने (कॉन्करिंग द नेचर) की भाषा नहीं सोची। पश्चिम में प्रकृति और आदमी के बीच बुनियादी शत्रुता की दृष्टि है। इसलिए वे कहते हैं जीतना है प्रकृति को। अब माँ को कोई जीतता नहीं। लेकिन पश्चिम में प्रकृति और जीवन, जगत और मनुष्य के बीच एक शत्रुता का भाव है। जीतना है, लड़ना है, हराना है।

बर्ट्रेन्ड रसेल की एक किताब है 'Conquest of Nature'। पश्चिम का कोई दार्शनिक लिख सकता है, 'प्रकृति की विजय'। लेकिन कोई कणाद, कोई कपिल, कोई महावीर, कोई बुद्ध कोई कृष्ण—पूर्व का कोई भी दार्शनिक नहीं कह सकता है—'प्रकृति की विजय'। क्योंकि, हम प्रकृति के ही तो हिस्से हैं, अंश हैं, उसकी विजय हम कैसे करेंगे? वह विजय वैसा ही पागलपन है, जैसे मेरा हाथ सोचे शरीर की विजय कर ले। पागलपन है। मेरे हाथ शरीर की विजय कैसे करेंगे! मेरा हाथ मेरे शरीर का एक हिस्सा है। मेरा हाथ मेरा शरीर ही है। हाथ लड़ेगा किससे? जीतेगा किससे? जीतने की भाषा ही खतरनाक है। लेकिन पश्चिम कॉनफ्लिक्ट, द्वंद की भाषा में सोचता है। वह सोचता है प्रकृति और हम दुश्मन हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है और इसलिए पश्चिम में अगर बेटा बाप का दुश्मन हुआ जा रहा है तो ठीक 'कोरोलरी' (Corollary) है, उसका यही परिणाम होने वाला है। क्योंकि प्रकृति माँ है अगर, और आदमी उसका दुश्मन है तो अपनी माँ से दोस्ती कितने दिन चलेगी? उस माँ से भी दुश्मनी हो ही जाने वाली है।

इस सूत्र के लिए मैं यह सब क्यों कह रहा हूँ, यह समझ लेना जरूरी है। यह समझ लेना इसलिए जरूरी है कि जब लोग अत्यंत सरल भाव से जीते हैं और जीवन को और अपने को तोड़कर नहीं देखते। उनके बीच कोई गल्फ, कोई खाई नहीं देखते तो फिर उस स्थिति में सब कुछ परिवर्तित होता है और ढंग से परिवर्तित होता है।

कृष्ण कहते हैं अन्न से बनता है मनुष्य। हम कहेंगे, अन्न से! बड़ी मटीरियलिस्ट, बड़ी भौतिकवादी बात कहते हैं कृष्ण और कृष्ण जैसे आध्यात्मिक व्यक्ति से ऐसी बात, फिर पश्चिम का दृष्टिकोण दिक्कत देता है। असल में पश्चिम कहता है कि सारा जीवन पदार्थ है। पूर्व तो कहता ही नहीं कि पदार्थ है, पूर्व तो कहता है सभी परमात्मा है। अन्न भी पदार्थ नहीं है, वह भी जीवंत परमात्मा है।

इसलिए कृष्ण जब कहते हैं अन्न से निर्मित होता है मनुष्य तो कोई इस भूल में न पड़े कि वह वही कह रहे हैं जैसा कि भौतिकवादी कहता है कि बस खाना पीना इसी से निर्मित होता है, मनुष्य, मिट्टी, पदार्थ, तत्व इन्हीं से निर्मित होता है। वे यह नहीं कह रहे हैं। यहाँ मामला बिलकुल उलटा है। वह कह रहे हैं अन्न से निर्मित होता है मनुष्य और जब अन्न से मनुष्य निर्मित होता है तो अन्न भी जीवंत है, पदार्थ नहीं है। और अन्न आता है वृष्टि से। वह आता है वर्षा से। वर्षा न हो तो अन्न न हो। यहाँ वे जोड़ रहे हैं जीवन और प्रकृति को गहरे में।

वे कहते हैं अन्न आता है वर्षा से और वर्षा कहाँ से आती है? अब वर्षा कैसे आती है? कृष्ण कहते हैं यज्ञ से। वैज्ञानिक कहेगा बेकार की बात कर रहे हैं! वर्षा और यज्ञ से, पागल हैं! वैज्ञानिक कहेगा वर्षा? वर्षा यज्ञ से नहीं आती, वर्षा बादलों से आती है। लेकिन कृष्ण पूछना चाहेंगे, बादल कहाँ से आते हैं? विज्ञान उत्तर देता चला जायगा, समुद्र से आता, नदी से आता है। लेकिन अन्ततः सवाल यह है कि क्या मनुष्य में और आकाश में चलनेवाले बादलों के बीच कोई आत्मिक सम्बन्ध है, या नहीं है?

कृष्ण जब कहते हैं, वर्षा आती है यज्ञ से तो वह यह कह रहे हैं कि वर्षा और हमारे बीच भी सम्बन्ध है। वर्षा हमारे लिए आती है, हमारी कामनाओं, हमारी आकांक्षाओं, हमारी भूख, हमारी प्यास को पूरा करने आती है। वे यह कह रहे हैं कि वर्षा हमारी प्रार्थनाएँ सुनकर आती है। समझने की बात सिर्फ इतनी है कि प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई लेन-देन, कोई कम्यूनिकेशन है या नहीं है? पश्चिम कहता है कोई कम्यूनिकेशन नहीं है। प्रकृति बिलकुल अंधी है। उसे मनुष्य से कोई मतलब नहीं है। लेकिन ऐसा दिखायी नहीं पड़ता। वैज्ञानिक खोजों से भी दिखायी नहीं पड़ता, दो-चार उदाहरण मैं देना चाहूँगा ताकि ख्याल में बात आ सके।

शायद आप को पता न हो जब भी युद्ध होते हैं, तब युद्ध के बाद जो बच्चे पैदा होते हैं उनमें पुरुष बच्चों की संख्या एकदम से बढ़ जाती है, और स्त्री बच्चों की संख्या कम हो जाती है। बड़ी हैरानी की बात है। अब वैज्ञानिक मुश्किल में पड़ा है दो युद्धों के बाद। क्योंकि, कोई अर्थ समझ में नहीं आता कि इसका युद्ध से क्या मतलब कि पुरुष ज्यादा पैदा हों कि स्त्रियाँ ज्यादा पैदा हों! युद्ध से क्या सम्बन्ध! लेकिन, युद्ध के बाद और आमतौर से लड़के ज्यादा पैदा होते हैं, सौ लड़कियाँ पैदा होती हैं तो एक सौ सोलह लड़के पैदा होते हैं। हमेशा अनुपात यही है। यह अनुपात भी बड़ा मिस्टीरियस (रहस्यपूर्ण) है। क्योंकि पन्द्रह साल के होते-होते सौ लड़कियाँ रह जाती हैं और सौ लड़के रह जाते हैं, सोलह लड़के मर जाते हैं। लड़के का शरीर, स्त्री के शरीर से रेजीस्टेन्ट

(प्रतिरोध शक्ति) में कमजोर है। इसलिए लड़कियाँ सोलह कम पैदा होती हैं लड़के सोलह ज्यादा पैदा होते हैं। क्योंकि विवाह की उम्र आते-आते तक बराबर संख्या रह जानी चाहिए। अगर बराबर लड़के-लड़कियाँ पैदा हों तो लड़के कम पड़ जायेंगे। लेकिन, युद्ध के बाद अनुपात बहुत हैरानी का हो जाता है, अनुपात एकदम बढ़ जाता है। पुरुष बहुत बड़ी संख्या में पैदा होते हैं। क्योंकि युद्ध पुरुषों को मार डालता है।

अगर प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई बहुत आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है तो यह घटना नहीं घटनी चाहिए। अगर आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है तो इसकी कोई भी जरूरत नहीं कि कितने लड़के पैदा हों, कितनी लड़कियाँ पैदा हों! कितने ही हों। कभी ऐसा भी नहीं हो सकता है कि किसी जमाने में पुरुष इतने ज्यादा हो जायँ कि स्त्रियाँ बहुत कम पड़ जायँ। कभी ऐसा हो सकता है कि स्त्रियाँ बहुत ज्यादा हो जायँ और पुरुष कम पड़ जायँ। लेकिन, ऐसा कभी नहीं होता है। **जरूर स्त्री और पुरुष के पैदा होने के पीछे प्रकृति कोई हारमनी, कोई व्यवस्था, कोई संतुलन बनाये रखती है।**

जीवन और हम जुड़े हैं, गहरे में जुड़े हैं। अभी एक नयी साइन्स निर्मित हुई है—इकोलॉजी, अभी वह विकसित हो रही है। **आज नहीं कल इकोलाजी जब बहुत विकसित हो जायेगी तब कृष्ण का वचन पूरी तरह समझ में आ सकेगा।** यह इकोलाजी नया विज्ञान है जो पश्चिम में विकसित हो रहा है क्योंकि वहाँ मुश्किल खड़ी हो गयी, क्योंकि उन्होंने सारी की सारी प्रकृति को अस्त-व्यस्त कर दिया है।

पिछली बार तिब्बत में एक गाँव में ऐसा हुआ कि डी० डी० टी० छिड़का गया। तिब्बत के ग्रामीण लोगों ने बहुत कहा कि मत छिड़किये, मच्छड़ चलते हैं कोई हर्जा नहीं, हमारे साथी हैं, और हम भी हैं और हम सदा से साथ रह रहे हैं। ऐसी कोई ज्यादा अड़चन भी नहीं है। लेकिन एक्सपर्ट तो मान नहीं सकता? उसने डी० डी० टी० छिड़क कर सारे मच्छड़ मार डाले। गाँव के बूढ़े प्रधान लामा ने कहा भी कि भई मच्छड़ तो मर जायेंगे वह तो ठीक है लेकिन मच्छड़ों के मरने साथ कोई और दिक्कत तो हमारे लिए खड़ी नहीं हो जायेगी? क्योंकि वह सदा से थे और हमारे जीवन के हिस्से थे उनके मरने से कहीं और गड़बड़ी तो नहीं हो जायेगी? लेकिन विशेषज्ञों ने कहा, क्या पागलपन की बातें करते हैं! लेकिन हुआ वही—मच्छड़ तो मरे सो मरे, बिल्लियाँ भी गयीं। उसी डी० डी० टी० के छिड़काव में बिल्लियाँ मर गयीं। और बिल्लियाँ मर गयीं तो चूहे बढ़ गये। चूहे बढ़ गये तो मलेरियाँ गाँव के बाहर हुआ लेकिन प्लेग गाँव के भीतर आ गया।

गाँव के प्रधान लामा ने कहा कि बड़ी मुश्किल में हमको डाल दिया। मलेरिया फिर भी ठीक था, यह प्लेग और भी मुसीबत है। फिर मलेरिया से तो हम लड़ ही लेते थे अब यह प्लेग हमारे लिए बिलकुल नयी घटना है। अब इसके लिए हम क्या करें? तो एक्सपर्ट ने कहा ठहरो हम दूसरा पावडर लाते हैं जिससे हम चूहों को मार डालेंगे। लेकिन, उस बूढ़े ने कहा अब हम तुम्हारी नहीं मानेंगे। क्योंकि पहले ही हमने तुमसे पूछा था कि मच्छर मर जायें तो कोई और दिक्कत तो नहीं आयेगी, लेकिन तुमने कहा कोई दिक्कत नहीं आयेगी। अब हम तुमसे पूछते हैं कि अगर चूहे मर जायें और प्लेग गाँव के बाहर हो और कोई महाप्लेग गाँव के भीतर आ जाय तो जिम्मेदार कौन होगा? और अब हम तुम पर भरोसा नहीं कर सकते। उस एक्सपर्ट ने कहा फिर तुम क्या करोगे? तो उस बूढ़े आदमी ने कहा हम पुरानी व्यवस्था फिर से निर्मित कर देंगे। कैसे करोगे? उसने आस-पास के गाँव से बिल्लियाँ उधार मँगवायीं और गाँव में छोड़ीं। बिल्लियाँ आयीं, चूहे कम हुए तो मच्छड़ वापस लौट आये।

इकोलॉजी का मतलब है जिन्दगी एक परिवार है, उस परिवार में सब चीजें जुड़ी हैं। सब संयुक्त हैं एक ज्वाइंट फैमिली है। सड़क के किनारे पड़ा हुआ पत्थर भी आपकी जिन्दगी का हिस्सा है। अब सारी दुनिया में हमने वृक्ष काट डाले तब हमको पता चला हम मुश्किल में पड़ गये। क्योंकि, **वृक्ष कट गये तो बादल अब वर्षा नहीं करते।** लेकिन, हमें पहले पता नहीं था कि वृक्ष काटने से बादल वर्षा नहीं करेंगे। हमने कहा, क्या चिंता है—जमीन साफ करो। लेकिन, वह **वृक्ष बादलों को निमन्त्रित करते थे।** अब वह वृक्ष निमन्त्रण नहीं भेजते बादलों को। अब बादल चले जाते हैं, उनको कोई रोकता नहीं है।

अभी हमने जब चाँद पर पहली दफा अपना अन्तरिक्ष यान भेजा तो हमें पता नहीं कि हमने क्या-क्या किया है। वह पता चलने में शायद पचास वर्ष लगेंगे। पृथ्वी की दो सौ मील के बाद जहाँ हवा समाप्त होती है वहाँ एक बड़ी पर्त अनेक गैसों व ऊर्जाओं से बनी हुई है जो सदा से पृथ्वी को घेरे हुए है। उसकी एक दीवाल की तरह मोटी पर्त पूरी पृथ्वी को घेरे हुए है। उस पर्त के कारण सूरज की वही किरणें पृथ्वी तक आ पाती हैं जो जीवन के लिए हितकर हैं और वे किरणें बाहर रह जाती हैं जो हितकर नहीं है। लेकिन, अब वैज्ञानिकों को पता चला है कि हमने जहाँ-जहाँ से अन्तरिक्षयान भेजे हैं वहाँ-वहाँ विन्डोज (खिड़कियाँ) पैदा हो गये हैं। जहाँ-जहाँ से वह पर्त तोड़कर यान गया है वहाँ खिड़कियाँ पैदा हो गयी हैं। उन खिड़कियों से सूरज की वे किरणें भी भीतर आने लगीं जो कि जीवन के लिए अत्यन्त खतरनाक हैं।

कृष्ण यह कह रहे हैं इस छोटे से सूत्र में कि जीवन एक संयुक्त घटना है।

आकाश में बादल भी चलता है तो वह भी हमारे प्राणों की धड़कन से जुड़ा है; सूरज भी चलता है तो वह भी हमारे हृदय के किसी-किसी हिस्से से संयुक्त है, अभी सूरज ठंडा हो जाय तो हम सब यहीं ठंडे हो जायेंगे। दस करोड़ मील दूर है सूरज। हमको पता ही नहीं चलेगा कि वह कब ठंडा हो गया। क्योंकि, वहाँ से कोई अखबार भी नहीं निकलता है। वहाँ से कोई सूचना भी नहीं आयेगी। हमको यह भी पता नहीं चलेगा कि वह ठंडा हो गया। क्योंकि, उसके ठंडे होने के ठीक आठ मिनिट बाद हम भी ठंडे हो जायेंगे। इसलिए इतनी देर लगेगी कि आठ मिनिट तक उसकी पुरानी किरणें जो सूरज के ठण्डे होने के पहले जल चुकी हैं वे हमारे काम आती रहेंगी, पर आठ मिनिट बाद हम ठंडे हो जायेंगे।

इससे उल्टा भी सच है। अगर सूरज से हम जुड़े हैं और अगर सूरज के बिना हम ठंडे हो जायँगे तब दूसरी बात आपसे कहता हूँ जो इस मुल्क ने अकेले हिम्मत की है कहने की, वह यह है कि **अगर हम भी ठंडे हो जायँ तो सूरज भी कुछ गँवा देगा।** अब यह जरा कठिन पड़ता है समझना। लेकिन, यह समझ में आ सकेगा। अगर जीवन इण्टररिलेटेड है, अगर पति के मरने से पत्नी में कुछ कम हो जाता है तो पत्नी के मरने से पति में भी कुछ कम होगा। अगर सूरज के मिटने से पृथ्वी ठंडी हो जाती है तो पृथ्वी के ठंडे होने से सूरज में भी कुछ टूटेगा और बिखरेगा। क्योंकि सारी सृष्टि, सारा जीवन संयुक्त है, जुड़ा हुआ है।

तो जब कृष्ण कहते हैं, अन्न से बनता है मनुष्य तो वह यह कह रहे हैं पदार्थ और चेतना में कोई बुनियादी भेद नहीं है। दोनों एक ही चीज है। पदार्थ से ही बनती है आत्मा। आत्मा का मतलब सिर्फ इतना है कि पदार्थ भी पदार्थ नहीं है। वह भी छिपी हुई, लेटेन्ट आत्मा है। वह भी गुप्त आत्मा है। आप अन्न खाते हैं, वह खून बनता है, हड्डियाँ बनता है, चेतना बनता है, होश बनता है, बुद्धि बनता है। निश्चित ही जो अन्न से बनता है वह उसमें छिपा है। वह भी जीवन है। कहना चाहिए कि 'बिल्ट इन' (अन्तर्गभित) जीवन है उसके भीतर जो आपमें आकर फैल जाता और खिल जाता है। अन्न आता है वर्षा से, वर्षा आती है यज्ञ से, क्यों? यज्ञ का यहाँ क्या अर्थ है?

यहाँ कृष्ण यह कह रहे हैं कि जब मनुष्य अच्छे काम करता है और **जब मनुष्य परमात्मा पर समर्पित होकर जीता है तो परमात्मा उसकी फिक्र करता है। सब तरफ से पूरी प्रकृति उसकी चिन्ता करती है।** सब तरफ से बादल वर्षा डालते हैं, वृक्ष फलों से भर जाते हैं। नदियाँ बहती हैं, सूरज चमकता है। जीवन में एक मौज और एक खुशी और एक रंग और एक सुगंध होती है और जब आदमी बुरा होना शुरू होता है और आदमी जब अहंकार से भरता है और

आदमी कहने लगता है कि मैं ही सब कुछ हूँ, कोई परमात्मा नहीं तब जीवन सब तरफ से विकृत होना शुरू हो जाता है। यज्ञ का अर्थ है परमात्मा को समर्पित लोगों का कर्म। परमात्मा को सब कुछ समर्पित कर वे जीवन को ऐसा सामंजस्य, ऐसी हारमनी देते हैं कि सारी प्रकृति उनके लिए अपना सब कुछ लुटाने को तैयार हो जाती है। अब इसको एक छोटा-सा उदाहरण देकर मैं आपको ख्याल में लाना चाहूँ तो शायद समझ में आ जाय।

आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में एक छोटी सी प्रयोगशाला है डि ला बार (De La Borr)। वहाँ वे कुछ बहुत गहरे प्रयोग कर रहे हैं। उसमें एक प्रयोग मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ। वह प्रयोग है कि उन्होंने दो क्यारियों में बीज बोये। एक से बीज, एक सी खाद, एक सी क्यारी, एक सा सूरज का रुख, लेकिन एक क्यारी के ऊपर उन्होंने पॉप म्युजिक बजाया। पॉप म्युजिक जो आज सारी दुनिया के नये जनरेशन (पीढ़ी) का संगीत है। संगीत कम है, विसंगीत ज्यादा है। लेकिन उसका नाम तो संगीत ही है। तो एक क्यारी पर पॉप म्युजिक बजाया रोज एक घंटे और दूसरी क्यारी पर क्लासिकल (शास्त्रीय) संगीत बजाया, बिथोवान मोझर्ट, बेजनर आदि का संगीत बजाया। शास्त्रीय संगीत जो कि सही अर्थों में स्वरों का संगम और सामंजस्य है। इसमें वैज्ञानिकों को बड़ी हैरानी का अनुभव हुआ। जिस क्यारी पर पॉप म्युजिक बजाया गया उस क्यारी के बीजों ने फूटने से इनकार कर दिया और जिस क्यारी पर शास्त्रीय संगीत बजाया गया उसके बीज जल्दी फूट गये, समय के पहले। बा-मुश्किल पॉप संगीतवाली क्यारी के बीज बा-मुश्किल फूटे भी तो उनमें जो अंकुर आये वे अर्द्धमृत थे, पहले से ही मरे हुए थे। उनमें फूल तो लग ही न सके। और शास्त्रीय संगीतवाली क्यारी पर, जैसे फूल साधारणतः उन बीजों से आने चाहिए थे, उनसे डेढ़ गुने बड़े फूल आये और डेढ़ गुने ज्यादा बड़ी ज्यादा संख्या में आये।

अब डिलाबार लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) के वैज्ञानिकों का कहना है कि संगीत की जो तरंगें पैदा हुईं उन्होंने अन्तर पैदा किया है। क्या संगीत से जब तरंगें पैदा होती हैं तो आदमियों के कर्मों से तरंगें पैदा नहीं होतीं? और अगर संगीत से तरंगें पैदा होती हैं तो क्या आदमी की चित्त की अवस्थाओं से तरंगें पैदा नहीं होतीं? क्या अहंकार से भरा हुआ आदमी अपने चारों तरफ विसंगीत नहीं फैलाता? क्या अहंकार से शून्य विनम्र आदमी अपने चारों ओर शास्त्रीय संगीत को नहीं फैलाता?

कृष्ण जब कह रहे हैं कि यज्ञ से होती है वर्षा तो वे यह कह रहे हैं कि जब निरहंकारी लोग इस पृथ्वी पर जीते हैं तो सारा जीवन इनके लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है, बादल भी वर्षा करते हैं, पौधे भी अन्न से भर जाते

हैं। और जब व्यक्ति गलत तरंगें अपने चारों ओर फैलाने लगते हैं तो जीवन दरिद्रताओं से भर जाता है। और यह भी मैं आपको कहना चाहूँ कि आप कहेंगे कि संगीत से व्यक्ति के तरंगों का क्या सम्बन्ध ? व्यक्ति से कोई तरंगें उठती हैं ?

आपमें से बहुतों को निरन्तर अनुभव हुआ होगा कि जब आप किसी एक व्यक्ति के पास जाते हैं तो अचानक रिपल्सिव मालूम होता है कि हट जायँ। जैसे कि कोई चीज आपको धक्का देती है। किसी के पास जाते हैं तो लगता है कि आलिंगन में भर लें, कोई जैसे पास बुलाता है। कोई चीज खींचती है, अट्रेक्ट करती है। खैर, ये तो मनोभाव हैं। हो सकता है कल्पना हो। लेकिन अब तो फ्रांस के एक वैज्ञानिक ने एक यन्त्र विकसित किया है जो बताता है कि व्यक्ति से तरंगें निकल रही हैं, वे रिपल्सिव हैं या अट्रेक्टिव। जैसे आप वजन तौलने की मशीन पर खड़े होते हैं और काँटा घूमकर वजन बताता है, ऐसा ही उस मशीन के सामने खड़े हो जाते हैं और काँटा घूमकर बताना शुरू कर देता है कि इस व्यक्ति से जो किरणें निकल रही हैं वे लोगों को दूर हटानेवाली होंगी कि पास खींचनेवाली होंगी।

आज नहीं कल जब हम मनुष्य के जीवन में और थोड़ी गहराई से घुस पायेंगे तो हमें इन सत्यों का पता चलेगा और अगर आज वर्षा खो गयी है, और आज अगर अन्न खो गया है और आज अगर सब कुछ खो गया है और सब दुर्दिन और दुःख से भर गया है तो उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि संख्या बढ़ गयी है। उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि पृथ्वी की पैदा करने की क्षमता कम हो गयी है, उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि हम वैज्ञानिक खाद नहीं डाल पा रहे हैं। नहीं, उसके और गहरे कारण भी हैं।

मनुष्य से जो तरंगें निकलती थीं और सारी प्रकृति से उन तरंगों का जो तालमेल था वह टूट गया है, जो इनर हार्मनी थी, वह टूट गयी है। मनुष्य ने अपने हाथ से ही सब तालमेल तोड़ डाला है, वह अकेला खड़ा हो गया दुश्मन की तरह। न बादलों से कोई दोस्ती है, न नदियों से कोई प्रेम है। ये लोग आज हमें पागल ही मालूम पड़ते हैं जो किसी नदी को नमस्कार करते हैं। पागल हैं, नदी को नमस्कार कर रहे हैं। लेकिन जिन लोगों ने पहली बार नदी को नमस्कार किया था उनके भाव का आपको कुछ ख्याल है ? जिन्होंने पहली बार नदी के चरणों में सिर रखा था उनके भाव का कुछ ख्याल है ? जरूर उन्होंने नदी से एक मैत्री, एक हार्मनी का अनुभव किया था। जो पहाड़ों पर चढ़कर नमस्कार करने गये थे उनके भाव का कोई ख्याल है ? लेकिन आज की दुनिया में भाव सिर्फ बिना कीमत की चीज है। उसका कोई मूल्य ही नहीं है। भावपूर्ण होना मूर्खतापूर्ण होना हो गया है, हालाँकि इससे बड़ी मूर्खता दूसरी नहीं हो सकती है।

कृष्ण ठीक कह रहे हैं कि यज्ञ-पूर्ण कर्मों से, यज्ञ-पूर्ण प्रार्थनाओं से वर्षा होती है। तो इसका अर्थ यह नहीं है कि आप आग जलाकर, उसमें गेहूँ डालकर वर्षा कर लेंगे। यह मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं उससे कहीं ज्यादा गहरी बात कह रहा हूँ। मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि यह तभी संभव हो पायेगा जब प्रकृति और मनुष्य दुश्मन की तरह नहीं, मित्रों की तरह, प्रेमियों की तरह, एक ही चीज के हिस्से की तरह जीते हैं। तब हमारा पूरा जीवन यज्ञ हो जाता और उस क्षण में अगर हम आग जलाकर भी बादलों से बात करते हैं तो उसका कोई अर्थ होता है। आज नहीं हो सकता यह, लेकिन उस दिन जब इतने भाव से भर कर हम यज्ञ की वेदी बनाते थे और उसके चारों तरफ नाचकर बादलों से प्रार्थना करते थे।

मैंने सुना है, एक गाँव में बहुत दिनों से वर्षा नहीं हुई। गाँव के बाहर यज्ञ हो रहा है। सारे गाँव के लोग प्रार्थना करने जा रहे हैं। एक छोटा बच्चा छाता लगाकर निकल आया घर से, कंधे में छाता दबाकर। लोगों ने, बड़े-बूढ़ों ने कहा—पागल, छाता घर में फेंक कर आ। वर्षा तो हो नहीं रही दो साल से। छाता को लेकर क्या करेगा ? उसने कहा, आप सब लोग यज्ञ में जा रहे हैं मैंने सोचा आपको भरोसा होगा कि आपकी प्रार्थना सुनी जायेगी। इसीलिए मैं छाता लेकर चल रहा हूँ। आपको ही भरोसा नहीं तो जलाओ आग, डालो गेहूँ उसमें और जो वह पास में है उसे भी खराब करो। उससे कुछ होनेवाला नहीं है। वह एक छोटा बच्चा भर उस गाँव में यज्ञ करने का अधिकारी था, बाकी सब पूरा गाँव अधिकारी नहीं था। लेकिन घर के बड़े-बूढ़ों ने डांटा-डपटा और छाता रखवा लिया। कहा, रख छाता, पागल कहीं का। कोई छीन ले, छुड़वा ले, भीड़भाड़ में टूट जाय। पानी दो साल से नहीं गिर रहा है। गिर गया ऐसे पानी। यह एक ही बच्चा यज्ञ का अधिकारी हो सकता था और यह एक ही बच्चा पूरे प्राणों से प्रार्थना करे तो बादल भी आ सकते हैं, क्योंकि हम सब जुड़े हैं। हम इतने अलग नहीं है जितने बादल और हम दिखायी पड़ते हैं। इस जगत में कुछ भी अलग-अलग नहीं है, सब संयुक्त है।

इस जगत में दूर से दूर का तारा भी आपके हाथों से जुड़ा है। अनन्त-अनन्त दूरी पर जो तारे हैं वे भी मेरे शब्दों की ध्वनि से प्रध्वनित होते हैं। अनन्त दूरी पर जो है वह भी मेरे हृदय की झंकार से झंकृत होता है मेरा हृदय भी उनकी झंकार से झंकृत होता है। जीवन एक एकोलॉजी है—एक परिवार है। इस बात को ख्याल में रखें तो कृष्ण का वह सूत्र समझ में आ सकता है।

प्रश्न : कुछ दिन पहले गुजरात में होने वाले कोटिचंडी यज्ञ को आपने मूर्खता पूर्ण बताया था। इस पर दो शब्द कहें कि इसका क्या कारण था ?

आचार्यश्री : वह तो मैं अब भी कह रहा हूँ। आपके कोई कोटिचंडी यज्ञ काम के नहीं हैं। क्योंकि यज्ञ करने के पीछे जो भाव, जो मनःस्थिति, जो मनुष्य चाहिए वह मौजूद नहीं हैं। वह सब रिच्युअल है—मुर्दा ? मरा हुआ। इसमें कोई अर्थ नहीं है। यज्ञ न भी करें, लेकिन वह आदमी वापिस लौटा लें जो यज्ञ का अधिकारी है तो बिना कोटिचंडी यज्ञ किये वर्षा शुरू हो सकती है। सवाल असल में कृत्य का नहीं है, सवाल गहरे में भाव का है। आप क्या करते हैं, यह सवाल नहीं है, वह करने वाला चित्त कौन है इसका सवाल है। वह तो नहीं है। वह तो बिलकुल नहीं है।

यज्ञ की वेदी पर जो इकट्ठे हुए हैं उनका चित्त प्रार्थना पूर्ण जरा भी नहीं है। जब यज्ञ पूरा हो जाय तो जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ करवाया उनके झगड़े देखिये जाकर ! किसी को फीस कम मिली, किसी को दक्षिणा कम मिली कोई नीचे बैठ गया, कोई ऊपर बैठ गया। इन लोगों ने यज्ञ करवाया है ? कोई दस रुपये रोज की फीस पर आया है, कोई पन्द्रह रुपये की फीस पर आया है रोज। इनके द्वारा आप बादलों तक संदेश पहुँचायेंगे ?

एक मित्र हैं मेरे। कुछ दिन हुए मिलने आये थे। पूरी जिन्दगी उन्होंने जैन, साधु-साध्वियों को शिक्षण देने में बितायी। साधु-साध्वियों को धर्म की शिक्षा देते थे। पूरी जिन्दगी बीत गयी। न मालूम कितने साधु-साध्वियों को उन्होंने ट्रेन्ड किये। मैंने उनसे पूछा कि जिन्दगी हो गयी, आप अब तक साधु नहीं बने ? उन्होंने कहा कि मेरा काम तो सिर्फ साधु-साध्वियों को शिक्षा देने का है। सीखना क्या है ? सिखाते हैं साधु ठीक से कैसे होना ? साधु के नियम क्या हैं ? साधु की साधना क्या है ? मैंने कहा चालीस वर्ष तक दूसरों को सिखाने के बाद भी अभी तक आपको ऐसा नहीं लगा कि आप साधु हो जायें तो जिनको आपने सिखाया उनको लगा होगा ? कैसे लगेगा ? कभी नहीं लगने वाला है।

अब भी कहता हूँ कि आपके कोटिचंडी यज्ञ कोई काम नहीं करेंगे, क्योंकि यज्ञ करने वाली चेतना नहीं है। वह होनी चाहिए। वही है अर्थपूर्ण और वह हो तो पूरा जीवन ही यज्ञ हो जाता है। और वह हो तो यह यज्ञ जो आप करते हैं यह भी सार्थक हो सकते हैं।

मैं निरंतर इनके खिलाफ बोलता हूँ। कई लोगों को भ्रम पैदा हो जाता है कि शायद मैं यज्ञ के खिलाफ हूँ। मैं और यज्ञ के खिलाफ कैसे हो सकता हूँ ? लेकिन जिसे आप यज्ञ कह रहे हैं वह यज्ञ ही नहीं है। वह सिर्फ पाखंड है, दिखावा है, धोखा है, व्यर्थ का जाल है। कभी सार्थक रहा होगा। लेकिन जिन लोगों की वजह से वह सार्थक था वे लोग अब नहीं हैं। उन लोगों को पैदा करें, यज्ञ फिर सार्थक हो सकता है।

मैंने एक छोटी सी कहानी सुनी है। मैंने सुना है एक घर में छोटे बच्चे थे। बाप बूढ़ा था, बच्चे छोटे ही थे तभी बाप मर गया। लेकिन बच्चों ने देखा था कि बाप खाना खाने के बाद उठकर चौके में से दीवार पर जाता था। दीवार पर एक आला था। उस आले में से कुछ उठाता, कुछ करता था। बच्चे बड़े हुए तो उन्होंने उस आले को सँभाल कर रखा। बाप कुछ करता नहीं था विशेष। आले में उसने एक सींक रख छोड़ी थी दाँत साफ करने के लिए। लड़के बड़े हुए तो उन्होंने देखा कि बाप खाना खाने के बाद रोज आले पर जाता था, अब बाप की याद में वे भी जाने लगे। उनको पता तो नहीं था कि सींक वहाँ रखी है, जिससे दाँत साफ करते। अभी उनके दाँत भी इस योग्य नहीं थे कि उन्हें साफ करने की जरूरत पड़े। उन्होंने सोचा करना क्या वहाँ जाकर, तो वे नमस्कार कर लेते थे।

बड़े हुए फिर तो उन्हें बड़ा अटपटा लगा कि नमस्कार तो करते हैं, लेकिन आले में कुछ है तो नहीं, सिर्फ एक सींक रखी है। बाप गरीब था लेकिन लड़कों ने काफी पैसे कमाये तो उन्होंने सोचा हटाओ इस सींक को। उन्होंने एक चंदन की लकड़ी खुदवाकर रख ली। फिर और पैसा कमाया और बड़े हुए। फिर नया मकान बनाया तो उन्होंने कहा वह आला तो बनाना ही पड़ेगा। उन्होंने कहा अब आला क्यों बनाना एक छोटा मंदिर ही बना लो। चंदन की लकड़ी छोटी पड़ी, मंदिर बड़ा हो गया तो उन्होंने कहा कि एक बड़ा स्तंभ ही बना लो। तो उन्होंने एक सोने का स्तंभ मंदिर के बीच में बनाकर रख दिया। रोज खाना खाकर उसको नमस्कार करते और अपने काम पर चले जाते।

मैंने सुना अब भी उनके घर में वही हो रहा है। आपके घर में भी वही हो रहा है। सभी घरों में वही हो रहा है। कभी वे बातें सार्थक होती हैं लेकिन जब यह व्यक्तित्व खो जाते हैं, बोध खो जाते हैं और उनके पीछे उनकी प्रक्रिया खो जाती है तब कोरे रीच्युअल, डेड रीच्युअल, मरे हुए क्रिया-कांड शेष रह जाते हैं। फिर हम उनको करते चले जाते हैं और अगर उन क्रिया-कांडों से कुछ नहीं होता तो भी हम सजग नहीं होते कि बहुत मूल बात व्यक्तित्व है, मनुष्य की चेतना है। वह चेतना वापिस हो तो यज्ञ आज भी संभव है। लेकिन, हम चेतना वापिस लौटाने के लिए उत्सुक नहीं हैं, क्योंकि चेतना को वापिस लौटाना कठिन काम है।

हम यज्ञ करने के लिए बिलकुल तैयार हैं। ले जाओ दस रुपये, कर डालो यज्ञ। इससे कुछ बनना बिगड़ना नहीं है। बहुत हुआ तो दस रुपये का नुक-सान होगा। हम यज्ञ करने में उत्सुक हैं, यज्ञ की चेतना में हम उत्सुक नहीं हैं। मेरा जोर इस पर है कि वह यज्ञ करने वाली चेतना हो तो सारा जीवन

ही यज्ञ हो जाता है फिर-फिर इस यज्ञ की जो वेदी बनती है उस पर जो होता है उसकी भी सार्थकता हो सकती है। वह हमेशा करने वाले आदमी पर निर्भर है, वह कभी की जाने वाली क्रिया पर निर्भर नहीं।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षर समुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

अर्थ : "तथा उस कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा उत्पन्न हुआ है इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।"

आचार्यश्री : कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि ऐसे कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान। वेद शब्द का अर्थ होता है ज्ञान। वेद शब्द का अर्थ सिर्फ वेद के नाम से चलती हुई संहिताएँ नहीं हैं। जिस दिन हमने यह ना-समझी की कि हमने वेद को सीमित किया संहिताओं पर, चार वेद पर, उसी दिन भारत के भाग्य में बड़ी से बड़ी दुर्घटना हो गयी। वेद है ज्ञान और ज्ञान सतत गतिमान है, डायनेमिक है, स्टैटिक नहीं है। **करोड़ों-अरबों संहिताओं में भी पूरा नहीं होता है ज्ञान। संहिताएँ सब चूक जायेंगी तो भी ज्ञान नहीं चूकता है। वह अनन्त है।** वेद को तू ऐसे ज्ञान से उत्पन्न हुआ जान।

दो तरह के कर्म हैं। एक अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म जो हम करते हैं और एक ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म जिसकी कृष्ण सूचना कर रहे हैं। अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म कौन सा कर्म है? **अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म वह कर्म है जिसमें कर्ता और अहंकार मौजूद हैं।** जिसमें हम कहते हैं 'मैं' कर रहा हूँ, वह ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है। उसमें अहंकार और अज्ञान संयुक्त घटना है। **जहाँ अज्ञान है वहीं अहंकार हो सकता है** और जहाँ अहंकार है, वहीं अज्ञान हो सकता है। यह दोनो अलग-अलग नहीं हो सकते। ऐसा नहीं हो सकता कि अहंकार चला जाय और अज्ञान रह जाय और ऐसा भी नहीं हो सकता कि अज्ञान चला जाय और अहंकार रह जाय। अज्ञान और अहंकार संयुक्त घटना है। ज्ञान और निरहंकार संयुक्त घटना है तो कृष्ण कह रहे हैं कि यज्ञ ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है। यज्ञ-रूपी कर्म ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है और ज्ञान परमात्मा से उत्पन्न होता है।

जो हम यह कहते हैं कि वेद परमात्मा ने रचे यह सिम्बॉलिक है। कोई किताब परमात्मा नहीं रचता। रच नहीं सकता। रचने का कोई कारण नहीं है। कोई किताब परमात्मा नहीं रचता, लेकिन परमात्मा बहुत सी चेतनाओं में उतरता है और ज्ञान बनता है। जो चेतनाएँ भी अपने-अपने अहंकार को विदा करने में समर्थ हैं परमात्मा उनमें उतर आता है। हाँ वे चेतनाएँ किताब लिखती हैं। इसलिए **उन चेतनाओं के द्वारा लिखी गयी किताब को अगर हम परमात्मा के द्वारा लिखी हुई किताब कहें तो एक अर्थ में सही है।** इसी अर्थ में सही है कि उन्होंने वही लिखा है जो परमात्मा ने उनके भीतर उतर-कर उन्हें जताया। अपौरुषेय हैं वे किताबें। लिखनेवाले यह नहीं कह रहे हैं कि हम इसके लेखक हैं। वे इतना कह रहे हैं कि **हम सिर्फ मीडियम हैं, माध्यम हैं, लेखक परमात्मा ही है।** लेकिन जब भी किसी व्यक्ति के भीतर ज्ञान उतरता है तो वह परमात्मा से उतरता है। ज्ञान परमात्मा का स्वभाव है, प्रकाश की भाँति। अँधेरा अहंकार का स्वभाव है।

हम अहंकार से भरे हों तो जीवन में जो भी कर्म होता है वह कर्म अज्ञान से ही निकला हुआ कर्म है। **और अज्ञान से निकले हुए कर्म की पहचान और परख क्या है? जिस कर्म से बंधन, दुःख, संताप, और पीड़ा पैदा हो वह कर्म अज्ञान से निकला हुआ जानना।** वह उसका लक्षण है, जिस कर्म से बन्धन पैदा न हो, जिस कर्म से आनन्द पैदा हो, जिस कर्म से चिन्ता न आये। निश्चिन्तता आये, जिस कर्म में गुलामी न हो, मुक्ति हो, उस कर्म को ज्ञान से निकला हुआ कर्म जानना और ज्ञान से वह तभी निकलेगा जब अहंकार भीतर न हो और जब अहंकार नहीं है तो परमात्मा है।

अहंकार की अनुपस्थिति परमात्मा की उपस्थिति बन जाती है। जिस दिन हम मिटते हैं उसी दिन परमात्मा हमारे भीतर प्रकट हो जाता है। **जब तक हम मजबूती से बने रहते हैं तब तक परमात्मा को जगह ही नहीं मिलती हमारे भीतर प्रवेश की।**

एक छोटी सी कहानी आपसे कहूँ फिर हम अपनी बात पूरी करें। सुना है मैंने एक जैन फकीर हुआ बांकेई। टोकियो यूनिवर्सिटी का एक प्रोफेसर उससे मिलने गया। दर्शनशास्त्र का अध्यापक था। बांकेई का नाम सुना और सुना कि सत्य उसे पता चल गया तो पता लगाने गया। जाकर बैठा। दोपहर थी, थका था, पहाड़ चढ़ा था झोपड़े तक। पसीना झर रहा था। बैठते ही उसने पूछा कि मैं जानने आया हूँ (व्हाट इज ट्रुथ?) सत्य क्या है? मैं जानने आया हूँ परमात्मा क्या है? (व्हॉट इज गॉड?) मैं जानने आया हूँ धर्म क्या है? (व्हॉट इज रिलीजन?) बांकेई ने कहा जरा धीरे, और जरा आहिस्ता। जरा बैठ जायँ, पसीना बहुत ज्यादा है माथे पर, थक गये हैं। श्वास चढ़ी है, जल्दी न करें। मैं एक कप बना लाऊँ। चाय ले लें, थोड़ा विश्राम कर लें, फिर हम बात करें। और यह भी हो सकता है कि बात करने की जरूरत न पड़े, चाय पीने से ही जो आप पूछने आये हैं उसका उत्तर भी मिल जाय।

प्रोफेसर ठनका, सोचा कि नाहक मेहनत की पहाड़ चढ़ने की। पागल है यह आदमी। कह रहा है चाय पीने से उत्तर मिल जायगा। क्या मैंने कोई ऐसा

सवाल पूछा है कि चाय पीने से उत्तर मिल जाय। तो चाय तो हम घर ही पी लेते। घर पीते ही हैं। इस पहाड़ पर, इस दुपहरी में, इस श्रम को करने की क्या जरूरत थी! निढाल होकर बैठ गया। लेकिन सोचा कि अब चाय तो पी ही लें और कोई आशा नहीं है। चाय पीकर वापस लौट जायँ। बांकेई भीतर से चाय बनाकर लाया। उसने प्रोफेसर के हाथ में कप और प्याली दी। केतली से चाय ढाली। भीतर का बर्तन पूरा भर गया, फिर भी वह चाय ढालता गया। फिर तो नीचे का बर्तन भी पूरा भर गया, फिर भी वह चाय ढालता गया। वह प्रोफेसर चिल्लाया, रुकिये मैं तो पहले ही समझ गया था कि आपका दिमाग ठीक नहीं मालूम होता। चाय नीचे गिर जायेगी, अब एक बूँद चाय रहने की जगह प्याली में नहीं है।

बांकेई ने कहा, यही मैं आपसे कहना चाहता था। एक बूँद भी जगह तुम्हारे रखने के लिए नहीं है और तुम सत्य, परमात्मा, धर्म—इतने-इतने बड़े लोगों को मेहमान बनाना चाहोगे। सत्य, परमात्मा, धर्म। जगह है, स्पेस है भीतर लेकिन, प्याली में एक बूँद जगह नहीं है, यह तुम्हें दिखायी पड़ती है और तुम्हारे मन की प्याली में एक बूँद भी जगह नहीं है यह तुम्हें दिखायी नहीं पड़ता। जाओ, जगह बनाकर आओ।

घबराहट में प्रोफेसर चाय भी न पी सका। घबड़ाकर उठ गया। बात तो ठीक मालूम पड़ी। जब खाली कर लूँगा तो आऊँगा। तो बांकेई खिलखिलाकर हँसने लगा। उसने कहा, पागल जब तू खाली कर लेगा तो परमात्मा खुद वहाँ आ जायगा। तुझे यहाँ आने की कोई जरूरत ही नहीं है। **जहाँ अहंकार मिटा, जहाँ भीतर जगह खाली हुई, इनर स्पेस हुआ, वहीं ज्ञान उतर आता है, वहीं प्रभु उतर आता है।**

यज्ञ रूपी कर्म जो करता उसके भीतर ज्ञान से कर्म विकसित होते हैं, निकलते हैं और ज्ञान से निकलता हुआ कर्म मुक्तिदायी है। शेष कल बात करेंगे।

●

पाँचवाँ प्रवचन

●

गीता-ज्ञान-यज्ञ, बम्बई, प्रातः, दिनांक २ जनवरी, १९७१

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायु रिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्चमानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

अर्थ : "हे पार्थ, जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए सृष्टि चक्र के अनुसार नहीं बरतता है अर्थात् शास्त्र के अनुसार कर्मों को नहीं करता है वह इन्द्रियों के सुख को भोगनेवाला पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

परन्तु जो मनुष्य आत्मा ही में प्रीतिवाला और आत्मा ही में तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट होवे उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।

क्योंकि इस संसार में उस पुरुष का किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा इसका सम्पूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थ और सम्बन्ध नहीं है। तो भी उसके द्वारा केवल लोक हितार्थ कर्म किये जाते हैं।"

आचार्यश्री : कृष्ण पहली बात इस सूत्र में कह रहे हैं—'सृष्टि के क्रम के अनुसार'। इसे समझ लें तो बाकी बात भी समझ में आ सकेगी। **जीवन दो ढंग से जिया जा सकता है।** एक तो **सृष्टि के क्रम के प्रतिकूल**—विरोध में, बगावत में, विद्रोह में। **और एक सृष्टि के क्रम के अनुसार**—सहज, सरल, प्रवाह में। एक तो जीवन की धारा के प्रतिकूल तैरा जा सकता है और एक धारा में बहा जा सकता है।

संक्षिप्त में कहें तो ऐसा कह सकते हैं कि दो तरह के लोग हैं। एक जो जीवन में धारा से लड़ते हैं, उलटे तैरते हैं और एक वे जो धारा के साथ बहते हैं, धारा के साथ एक हो जाते हैं। सृष्टि क्रम के अनुसार दूसरी तरह का व्यक्ति जीता है जीवन की धारा के साथ, जीवन से लड़ता हुआ नहीं, जीवन के साथ बहता हुआ। **धार्मिक व्यक्ति का वही लक्षण है।** अधार्मिक व्यक्ति का उसके प्रतिकूल लक्षण है।

अधार्मिक व्यक्ति अगर कहता है कि ईश्वर नहीं है तो इसलिए नहीं कि उसे पता चल गया है कि ईश्वर नहीं है। ईश्वर के न होने का पता तो किसी को भी नहीं चल सकता है। ईश्वर के न होने का पता तो तभी चल सकता है, जब कि कुछ भी जानने को शेष न रह जाय। **जब तक कुछ भी जानने को शेष है, तब तक कोई आदमी हकदार नहीं कि कह सके कि ईश्वर नहीं है, क्योंकि जो शेष है, उसमें ईश्वर हो सकता है।** ईश्वर के न होने का पता इसलिए किसी को भी नहीं चल सकता है। लेकिन ढेर लोग हैं, जो कहते हैं कि ईश्वर नहीं है, बिना पता चले वे क्यों कहते होंगे कि ईश्वर नहीं है। असल में वे चाहते हैं कि ईश्वर न हो।

ईश्वर न हो तो फिर जीवन के क्रम के साथ बहने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। ईश्वर न हो तो फिर जीवन से लड़ा जा सकता है। **ईश्वर हो तो जीवन से लड़ा नहीं जा सकता।** ईश्वर हो तो जीवन के साथ एक ही हुआ जा सकता है। ईश्वर नहीं है, ऐसा कोई अनुभव में किसी के कभी नहीं आता है। लेकिन, जो लोग जीवन से लड़ना चाहते हैं, वे 'ईश्वर नहीं है', ऐसा बिना माने लड़ नहीं सकते। इसलिए जीवन से लड़नेवाले सभी शास्त्र, जीवन से लड़नेवाले सभी वाद ईश्वर को इनकार करने से शुरू होते हैं। आश्चर्यजनक लगती है यह बात कि मार्क्स या एन्जिल्स या लेनिन या स्टैलिन या माओ जो लोग जीवन से लड़ने की धारणा मन में लिये हुए हैं, उनको अपने वाद का प्रारम्भ 'ईश्वर नहीं है', इस बात से करना पड़ता है।

असल में लड़ना हो तो ईश्वर को अस्वीकार कर देना जरूरी है। **ईश्वर से लड़ा नहीं जा सकता। उससे तो सिर्फ प्रेम ही किया जा सकता है।** उससे तो प्रार्थना ही की जा सकती है।

इस सूत्र में जीवन के क्रम के अनुसार का अर्थ है कि सारा जगत् हमसे भिन्न नहीं है, हमसे अलग नहीं है। **हम उसमें ही पैदा होते हैं और उसी में ही लीन हो जाते हैं।** इसलिए जो व्यक्ति भी इस जगत् की जीवन-धारा से लड़ता है, वह रुग्ण, डिसीज्ड हो जाता है। वह बीमार हो जाता है। जो व्यक्ति भी परिपूर्ण स्वस्थ होना चाहता है, उसे जीवन के कर्म के साथ बिलकुल एक होना चाहिए। इस जीवन के क्रम के आधार पर ही भारत ने जीवन की एक सहज धारणा विकसित की थी। वह मैं आपसे कहना चाहूँगा।

वर्ण के सम्बन्ध में कल मैंने कुछ आपसे कहा। आज आश्रम के सम्बन्ध में कुछ आपसे कहना चाहूँगा। तभी आप समझ सकेंगे कि **'सृष्टि के क्रम के अनुसार कर्म' का मौलिक अर्थ क्या है? और शास्त्र सम्मत कर्म करने का अर्थ** क्या है?

कृष्ण जब शास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं तो वे ठीक वैसे ही करते हैं जैसे आज हम साइंस (विज्ञान) शब्द का प्रयोग करते हैं, अगर आप एलोपैथिक चिकित्सक के पास जाते हैं तो हम कहेंगे, आप विज्ञान सम्मत चिकित्सा करवा रहे हैं। और अगर आप किसी 'नीम-हकीम' से इलाज करवाने जाते हैं तो हम कहेंगे कि आप विज्ञान सम्मत चिकित्सा नहीं करवा रहे हैं। कृष्ण जब भी कहते हैं, शास्त्र सम्मत तो कृष्ण का अर्थ शास्त्र से यही है। शास्त्र का अर्थ भी गहरे में यही है। **उस दिन तक जो भी जानी गयी साइंस थी, विज्ञान था, उसके द्वारा जो सम्मत कर्म है, उस कर्म की ओर वे इशारा कर रहे हैं** और जितना विज्ञान हम आज जानते हैं, वह एक अर्थ में आंशिक है—टोटल नहीं है, खंडित है। **हम सिर्फ पदार्थ के सम्बन्ध के विज्ञान को जानते हैं, जीवन के सम्बन्ध में हमारे पास और कोई विज्ञान नहीं है।**

कृष्ण के सामने एक पूर्ण विज्ञान था। पदार्थ और जीवन को खण्ड-खण्ड में बाँटनेवाला नहीं, वरन् जीवन को अखण्ड इकाई में स्वीकार करनेवाला। उस विज्ञान ने जीवन को चार हिस्सों में बाँट दिया था। जैसे, व्यक्तियों को चार टाइप (प्रकार) में बाँट दिया था, ऐसे एक-एक व्यक्ति की जिन्दगी को चार हिस्सों में बाँट दिया था। वे हिस्से जीवन की धारा के साथ थे।

पहले हिस्से को हम कहते थे ब्रह्मचर्य आश्रम। यदि १०० वर्ष आदमी की उम्र स्वीकार करें, तो २५ वर्ष का काल **ब्रह्मचर्य आश्रम** का था। दूसरे २५ वर्ष **गृहस्थ आश्रम** के थे, तीसरे २५ वर्ष **वानप्रस्थ आश्रम** के थे और चौथे २५ वर्ष **संन्यास आश्रम** के थे।

पहले २५ वर्ष जीवन प्रभात के हैं, जब कि ऊर्जा जगती है, शरीर सशक्त होता है, इंद्रियाँ बलशाली होती हैं, बुद्धि तेजस्वी होती है। जीवन उगता है। इस २५ वर्ष के जीवन को हमने ब्रह्मचर्य आश्रम कहा था। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। पहले २५ वर्ष संयम के, क्यों थे? क्योंकि **जिसके पास शक्ति है, वही जीवन के भोग में उतर सकेगा।** जो अशक्त है, वह जीवन के भोग **से वंचित रह जायगा।** जिसके पास जितनी शरीर की और मन की सम्पदा है, संरक्षित शक्ति है, वह जीवन के रस में उतने ही गहरे जा सकेगा। इसलिए **पहले २५ वर्ष शक्ति संचय के वर्ष हैं, जीवन की तैयारी के।**

और यह बहुत मजे की बात है कि जो ठीक से भोग सकेगा, वही ठीक से त्याग को उपलब्ध होता है। कमजोर भोग नहीं पाता, इसलिए कभी त्याग को उपलब्ध नहीं हो पाता। असल में कमजोर जान नहीं पाता कि भोग क्या है, इसलिए उसके पार कभी नहीं हो पाता। जीवन का एक अनिवार्य नियम है—**हम जिसे ठीक से जान लेते हैं, उससे मुक्त हो जाते हैं।** जिसे हम ठीक से नहीं जानते, उससे हम कभी मुक्त नहीं हो पाते हैं।

अभी यह बड़ी उलटी बात मालूम पड़ेगी कि **२५ वर्ष तक हम व्यक्ति को ब्रह्मचर्य की साधना में से गुजारते थे, ताकि वह काम-वासना से किसी दिन मुक्त हो सके।** २५ वर्ष हम उसे ब्रह्मचर्य साधना में रखते थे, ताकि वह २५ वर्ष काम-उपभोग की गहराई में उतर सके, वह सेक्स की जो गहरी-से-गहरी अनुभूतियाँ हैं, उनमें जा सके। क्योंकि वही सेक्स के बाहर जा सकेगा जो उसमें गहरा गया है। जो उसमें गहरा नहीं गया है, वह बाहर नहीं जा सकेगा। आज बूढ़े आदमी भी काम-वासना के बाहर नहीं जा पाते। क्योंकि काम-वासना में जाने के लिए जितनी शक्ति की जरूरत है, वही हम कभी नहीं जुटा पाते। इतनी प्रगाढ़ (इन्टेन्स) और तीव्र शक्ति चाहिए कि हम अनुभव कर सकें और अनुभव के बाहर जा सकें। उतनी शक्ति कभी इकट्ठी नहीं हो पाती। इसलिए यह २५ वर्ष दोहरे अर्थ के थे।

कृष्ण इस वचन में कहते हैं कि इंद्रियों के सुख जो भोगते हैं, उनके लिए भी जीवन के क्रम से ही जाना उचित है। **जीवन का अगर क्रम खंडित, टूटा, केआटिक (अराजक) हो जाय तो कोई भी जीवन के चरम शिखर पर उपलब्ध नहीं होता है।** इसलिए जीवन के पहले २५ वर्ष शक्ति के संचय के थे। कल फिर शक्ति के व्यय के क्षण आयेंगे।

कभी आपने सोचा है कि कमजोर आदमी **कभी भी काम-वासना से मुक्त नहीं हो पाता।** जितना कमजोर, उतना काम में गिर जाता है। ये उलटी बात लगती है। लेकिन, यही सच है। **जितना शक्तिशाली, उतना काम-वासना के शीघ्र बाहर हो जाता है।** इसलिए जितने शक्तिशाली युग थे, वे कामुक युग नहीं थे। और जितने कमजोर युग होते हैं, उतने ही सेक्सुअल (कामुक) युग होते हैं। **काम-वासना कमजोर करती है और कमजोरी काम-वासना को बढ़ाती है।** शक्ति काम-वासना से मुक्त करती है और काम-वासना से मुक्ति आती है तो शक्ति बढ़ती है। ये दोनों जुड़ी हुई बातें हैं। कमजोर आदमी वासना के बाहर कभी नहीं जा पाता। असल में कमजोर आदमी वासना में ही नहीं जा पाता, सिर्फ वासना का चिन्तन करता है। सेरिब्रल (मस्तिष्कगत) मानसिक हो जाता है, उसका सारा काम। शक्ति न होने से मन में हीं सोचता है।

स्वस्थ युग काम-वासना को कभी मन में नहीं ले जाते। अस्वस्थ युग काम-वासना को मन में ले जाते हैं। **जितना युग अस्वस्थ व कमजोर होता है, उतनी काम-वासना काम के केन्द्र से हट कर मस्तिष्क के केन्द्र पर गतिमान हो जाती है।** यह वैसा ही पागलपन है, जैसे कोई आदमी पेट में भोजन न पचाये और मस्तिष्क में पचाने की सोचने लगे। जैसे कोई आदमी पैर से न चले और

मस्तिष्क में चलने की योजनाएँ, कल्पनाएँ और स्वप्न देखता रहे। वह विक्षिप्त हो जायेगा। मस्तिष्क से चला नहीं जा सकता, मस्तिष्क से सिर्फ सोचा जा सकता है, पैर से सोचा नहीं जा सकता, पैर से सिर्फ चला जा सकता है। मस्तिष्क अपना काम करे, पैर अपना काम करे। लेकिन, अगर पैर कमजोर हो तो आदमी दौड़ने के सपने देखने लगता है। अगर पेट कमजोर हो तो आदमी भोजन की योजनाएँ बनाने लगता है, भोजन नहीं करता। सेक्स की ऊर्जा कमजोर हो तो आदमी सेक्स की चिन्ता करने लगता है।

पहले २५ वर्ष हमने व्यक्ति के जीवन में शक्ति संचय के वर्ष निर्णीत किये थे। जितनी शक्ति इकट्ठी करनी है, कर लो। क्योंकि **जितनी तुम्हारे पास शक्ति होगी, उतने गहरे तुम इन्द्रियों के अनुभव में जा सकोगे। और जितने गहरे जाओगे, उतने इन्द्रियों से मुक्त हो जाओगे।** जब इंद्रियों के सब अनुभव जान लिये जाते हैं तो आदमी जानता है उनमें कुछ भी पाने योग्य नहीं है। बात समाप्त हो जाती है। **लेकिन हम इन्द्रियों के अनुभवों को ही उपलब्ध नहीं हो पाते।** इसलिए पढ़ते रहते हैं शास्त्रों में कि इंद्रियों में कुछ नहीं है। लेकिन, सोचते रहते हैं कि इंद्रियों में ही सब कुछ है। सुनते रहते हैं, इंद्रियाँ दुश्मन हैं और मानते रहते हैं कि इंद्रियों के सिवाय और कुछ भी प्रीतिकर नहीं है। इंद्रियों के खिलाफ प्रवचन सुनते हैं और इंद्रियों के पक्ष में चित्र, फिल्म, उपन्यास, कविता देखते हैं। वही आदमी प्रवचन सुनता है इंद्रियों के विपरीत, सुखों के विपरीत। वही आदमी जाकर नाटक देखता है, वही नृत्य देखता है, वही वेश्या के घर भी दिखायी पड़ता है। बात क्या हो गयी है?

जीवन के क्रम के साथ व्यक्ति नहीं है। जीवन का पहला क्रम है, शक्ति संचय और इसमें एक दूसरी बात और ख्याल में ले लेनी जरूरी है। इस ब्रह्मचर्य के २५ वर्ष के आश्रम में हमने एक दूसरी और अत्यधिक गहरी मनोवैज्ञानिक बात जोड़ी थी, जो आज नहीं कल जगत् को वापस लौटा लेनी पड़ेगी—अन्यथा जगत् का बचना असंभव है और वह थी कि २५ वर्ष हार्डशिप का, कठिन श्रम का समय था।

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिस व्यक्ति का बचपन जितना ही श्रम का हो, उसकी शेष जिन्दगी उतनी ही सुख की होती है। और जिसका बचपन जितना सुख का हो, उसकी शेष जिन्दगी उतनी ही विषाद और दुःख की होती है। बचपन में जो चटाई पर सोया, बचपन में जिसने रूखी-सूखी रोटी खायी, बचपन में जिसने कुदाली चलायी, लकड़ी चीरी, गायें चरायीं, जिन्दगी उसे जो भी देगी, वह इससे सदा ज्यादा होगा। और तो सुख सदा तुलना में, कम्पेरिजन में है। जिन्दगी जो भी देगी, वह सदा इससे ज्यादा होगा।

आज हम ठीक उलटा पागलपन करते हैं—बाप को जो सुख नहीं है, वह बेटे को मिल जाता है, घर में जो सुख नहीं है, वह हॉस्टल में, छात्रावास में मिल जाता है। २५ वर्ष बीतते हैं बिलकुल बिना श्रम के, बिना काम के, बिना हार्डशिप के, बिना स्ट्रगल (संघर्ष) के और २५ साल के बाद जिन्दगी में आता है संघर्ष, आता है श्रम। इसलिए फिर जो भी मिलता है, वह कोई भी तृप्त नहीं कर पाता, कम्पेरेटिवली (तुलनात्मक ढंग से) जो भी मिलता है, वह सब बेकार लगता है। जो भी मिलता है, वह आशाओं के प्रतिकूल लगता है।

२५ वर्ष का पहला आश्रम श्रम का, साधना का, संकल्प का, आश्रम था। इसलिए जिन्दगी जो भी देती थी—रूखी-सूखी रोटी भी देती थी तो इतनी स्वादिष्ट थी कि जिसका कोई हिसाब नहीं। रोटी अब उतनी स्वादिष्ट नहीं है। सच बात रोटी तो बहुत स्वादिष्ट है, लेकिन खानेवाला स्वाद लेने की कला भूल गया है। रोटी आज दुनिया में पहले से बहुत ज्यादा स्वादिष्ट है। लेकिन, स्वाद लेनेवाला पहले से बहुत कमजोर है, स्वाद लेने वाला बिलकुल बीमार है। मकान दुनिया में आज जैसे हैं, ऐसे कभी भी न थे। सम्राटों को—अकबर को, अशोक को जो मकान नहीं मिले थे, वे आज साधारण आदमी को मिल सकते हैं, मिल गये हैं। लेकिन, आज मकानों में रहने में कोई सुख नहीं है। क्योंकि; रहने वालों के पास सुख को तौलने का कोई माप-दण्ड नहीं है, सुख को अनुभव करने की कोई क्षमता नहीं।

२५ वर्ष ब्रह्मचर्य के कठिन श्रम के वर्ष थे। **बाद की जिन्दगी प्रतिपल कम श्रम की होती चली जाती थी।** यह ठीक क्रम है। अधिक शक्ति है, जब हाथ में तो अधिक श्रम कर लेना चाहिए। आज बच्चे कम श्रम कर रहे हैं और बूढ़े ज्यादा श्रम कर रहे हैं। यह बिलकुल उलटा क्रम है। बच्चों के पास शक्ति है, बूढ़ों की शक्ति क्षीण हो गयी है। लेकिन, बूढ़े जुते हैं बैलों की तरह, बच्चे आराम कर रहे हैं। फिर आराम करते बच्चे अगर यूनिवर्सिटीज में आग लगायें, अगर ये आराम करते बच्चे पत्थर फेंके, काँच फोड़ें तो कुछ आश्चर्य नहीं है। **इनके पास काम नहीं है। ये बिलकुल बेकाम हैं।** इन्हें कुछ काम चाहिए। इन्हें कुछ तोड़ने को चाहिए। ये जंगल की लकड़ी काट लेते थे, तब ये गुरु के झोपड़े पर पत्थर नहीं फेंकते थे। लकड़ी काटने में ही इनकी इतनी शक्ति लग जाती थी कि ये हलके हो जाते थे। अब काटने-पीटने, ठोंकने जैसा कुछ उनके हाथ में नहीं है, इसलिए अब वे पत्थर फेंक रहे हैं।

पहले आश्रम में जब कि व्यक्ति के जीवन में प्रभात है, यह शक्ति के संचय, प्रयोग, क्षमता के विकास का समय है, विश्राम का नहीं। विश्राम का समय

धीरे-धीरे आयेगा। आखिरी क्षण, जिन्दगी के सूर्यास्त के समय विश्राम का क्षण होगा। तो हमने ७५ साल के बाद आखिरी संन्यास के आश्रम में पूर्ण विश्राम की व्यवस्था की थी। **पहला पूर्ण श्रम, अंतिम पूर्ण विश्राम।** बीच में दो सीढ़ियाँ थीं।

इस पहले आश्रम को एक तरफ से और समझ लें कि व्यक्ति का जो भी विकास है, वह करीब-करीब २५ वर्ष में पूरा हो जाता है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं और जल्दी पूरा हो जाता है। इसलिए इसके पहले कि विकास का समय पूरा हो जाय, व्यक्ति की पूरी पोटेन्सियलिटी को जगा लेने की कोशिश की जानी चाहिए। इसके पहले कि विकास का क्षण बीत जाय, व्यक्ति के भीतर जो भी शक्ति छिपी है—बीज-रूप, वह सब वृक्ष-रूप बन जानी चाहिए। वह वास्तविक हो जानी चाहिए। इसलिए रत्ती भर विश्राम का मौका २५ वर्ष में नहीं था। सतत श्रम था। कठोर श्रम था। अथक् श्रम था और इसके दो परिणाम होते थे। एक तो वह व्यक्ति अपनी पूरी शक्तियों को जगाकर जीवन में जाने के योग्य हो जाता था और दूसरा इसके बाद जीवन उसे जो भी देता, वह उसके लिए संतोष और आनन्द बनता था।

आज की दुनिया में कोई भी चीज संतोष नहीं बन सकती। आज हमारी **व्यवस्था ऐसी है कि हर चीज असंतोष ही बनेगी।** उसे असंतोष बनना ही पड़ेगा। क्योंकि, **संतोष की एक कला थी, वह जीवन के क्रम के साथ थी।** जब वृक्ष पर फूल आते हैं, तभी आने चाहिए। और जब वृक्ष के पत्ते झड़ते हैं, तभी झड़ने चाहिए, जब वृक्ष बूढ़ा हो जाय, तब हमें उससे वैसी आशा नहीं रखनी चाहिए, जैसे, जब वृक्ष जवान था, तब हमने आशा रखी थी। बड़ी हैरानी की बात है कि आज जवान से हम कोई आशा ही नहीं रखते, जिससे सर्वाधिक आशा रखी जानी चाहिए। इस ब्रह्मचर्य के काल में **एक तीसरी और प्रक्रिया** थी, जो आपको ख्याल दिला दूँ, वह भी जीवन का हिस्सा थी।

इस ब्रह्मचर्य के काल में चाहे किसी परिवार से कोई व्यक्ति आये जीवन **साम्यवादी था,** कम्यून का था। विद्यार्थी चाहे गरीब का लड़का हो, चाहे अमीर का हो, या सम्राट् का लड़का हो—कोई भी हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। **ब्रह्मचर्य के २५ वर्ष सह-जीवन के वर्ष थे और समान जीवन के वर्ष थे।** सम्राट् का लड़का भी लकड़ियाँ चीरता, वह भी गाय-बैल को चराने जाता, वह भी गोबर से सफाई करता, वह भी गुरु के पैर दबाता। ये २५ वर्ष कम्यून के, समानता के वर्ष थे। और इन २५ वर्ष में जो भी हृदय में प्रविष्ट हो जाता, वह जीवन भर साथ रहता था। **इसलिए चाहे समाज में असमानता दिखायी पड़ती रही हो, व्यक्तियों के चित्तों में कभी असमानता**

नहीं थी। और समानता की कोई पागल प्यास भी नहीं थी—जिसको स्पर्धा कहें—दूसरे से—वह इन २५ वर्षों में इन अर्थों में पैदा ही नहीं हो पाती थी। क्योंकि सब समान था। **इसलिए हमने एक नॉन-कॉम्पिटीटिव, एक स्पर्धामुक्त, महत्त्वाकांक्षा—शून्य समाज के निर्माण का प्राथमिक आधार रखा था।**

दूसरा आश्रम था गृहस्थ का। शायद इस पृथ्वी पर, इस देश ने मनुष्य को जितनी वैज्ञानिकता से स्वीकार किया है, इतनी वैज्ञानिकता से किसी ने कभी स्वीकार नहीं किया है। अब कैसी हैरानी की बात है कि २५ वर्ष तक हम उसे ब्रह्मचर्य का पाठ देते और २५ साल के बाद उसे गृहस्थ जीवन में भेज देते—विवाहित-जीवन में—काम-वासना, इंद्रियों के सुख में प्रवेश का मौका देते। कोई कहेगा कि यह क्या पागलपन है! २५ वर्ष तक जब ब्रह्मचर्य सिखाया तो अब क्यों उसे भेज रहे हैं? **ब्रह्मचर्य उसे सिखाया ही इसलिए कि अब वह तौल भी सकेगा कि आनंद ब्रह्मचर्य में है कि वासना में।** और जो आनंद उसने ब्रह्मचर्य में जाना वह आनंद वासना से उसे कभी नहीं मिल सकेगा। इसलिए वासना सिर्फ कर्तव्य रह जायगी। **इसलिए वासना कभी भोग की तृष्णा नहीं बनेगी, वह मात्र कर्तव्य रह जायगी।** और उसके प्राणों का पंछी निरंतर इसी आशा में रहेगा कि कब ५० वर्ष पूरे हो जायँ और मैं ब्रह्मचर्य की दुनिया में वापस लौट जाऊँ। इसलिए वासना काम का जितना सुख हम सोचते हैं, उतना सुख वास्तव में है नहीं।

जिन लोगों के जीवन में ब्रह्मचर्य की किरण उतरी, उन्हें हैरानी होती है कि पागल हैं आप। लेकिन, आपके पास तुलना का कोई उपाय भी तो नहीं है। **ब्रह्मचर्य का तो कोई आनंद कभी जाना ही नहीं, इसलिए तौलें किससे!** तौलने का कोई उपाय नहीं। हाँ, एक ही उपाय है। वह यह कि एक आदमी एक स्त्री के साथ संबंधित होता है, नहीं सुख पाता तो सोचता है कि शायद दूसरी स्त्री से संबंधित होने में सुख मिले, दूसरी से नहीं तो तीसरी से मिले। इस पुरुष से नहीं मिलता, दूसरे पुरुष से मिलेगा, दूसरे से नहीं मिलता तो सोचते हैं कि तीसरे से मिलेगा। लेकिन, तौलने का कोई उपाय नहीं है। व्यक्ति बदलो तो शायद मिल जाय, परिस्थिति बदलो तो शायद मिल जाय। लेकिन ब्रह्मचर्य के आनंद की हमारे मन में कोई कल्पना पैदा नहीं होती। क्योंकि और किसी अवस्था का हमें पता ही नहीं है।

इसलिए **वासना के जगत में यात्रा करने के पहले ब्रह्मचर्य का अनुभव अनिवार्य है,** अन्यथा वासना मरने तक, कब्र तक नहीं छोड़ेगी पीछा। क्योंकि तौलने का कोई उपाय नहीं रह जाता है। और ब्रह्मचर्य के सुख को, शांति को, आनन्द को जिसने जाना—ब्रह्मचर्य की शक्ति को, ब्रह्मचर्य की ऊर्जा को,

ब्रह्मचर्य के आह्लाद को जिसने जाना और ब्रह्मचर्य ने जिसके प्राणों में नृत्य किया, संगीत बजा ब्रह्मचर्य का, उसके सामने जब वासना की दुनिया आयेगी तो वह तौल सकेगा कि वह बहुत फीकी है। फीकी भी कहना बेकार है। उसमें कुछ बहुत स्वाद नहीं है। अत्यन्त साधारण है। तब वह उसे कर्तव्य की भाँति निभा पायेगा। ठीक है, विक्षिप्त होकर काम-वासना उसे पकड़ने वाली नहीं है।

इसलिए इस देश के शास्त्र कह सके कि जो व्यक्ति संतान के लिए ही संभोग में उतरता है, वह यद्यपि पुराने अर्थों में ब्रह्मचारी नहीं रहा, फिर भी ब्रह्मचारी है। संतान के लिए ही जो संभोग में उतरता है, वह भी ब्रह्मचारी है। इस देश के शास्त्र यह कह सके, इसीलिए कि सीधा कोई काम-वासना में नहीं उतरता था। जो एक बार ब्रह्मचर्य को जान ले उसके लिए काम-वासना सिर्फ एक कर्तव्य है, एक ड्यूटी है, जिसे निभा देना और मुक्त हो जाना है। ५० वर्ष में उसके बच्चे आश्रम से लौटने के योग्य होने लगेंगे। उसके बच्चे २५ वर्ष होने के करीब आ जायेंगे।

इस देश ने एक और गहरी बात खोजी और वह यह कि एक ही घर में बाप भी संभोग करे और बेटा भी संभोग करे—यह बहुत अनैतिक है। है भी, क्योंकि बाप भी फिर बचकाना है। बेटा शादी करके आ जाय, वह बच्चे पैदा करे और बाप भी बच्चे पैदा कर रहा हो उसके घर में तो यह बहुत शर्म की बात है। बेटा क्या सोचेगा? बाप चाइल्डिश है, बाप बचकाना है, प्रौढ़ नहीं है। अभी तक वासना से, काम से मुक्त नहीं हो पाया है!

इसलिए इस मुल्क को ख्याल था कि जिस घर में बेटा विवाहित हो जाय, उसी दिन बाप समझे कि वानप्रस्थ का समय हो गया—माँ समझे कि वानप्रस्थ का काल आ गया। वानप्रस्थ का मतलब समझते हैं? जिसका मुँह जंगल की तरफ हो गया है। अभी चले नहीं जाना है। सिर्फ 'टुवर्डस द फारेस्ट'—अभी सिर्फ मुँह हो गया जंगल की तरफ। वानप्रस्थ। जंगल की तरफ प्रस्थान की तैयारी अब उसे कर लेनी है। अभी अगर वह जंगल चला जाय तो क्रम में बाधा पड़ेगी। बच्चे अभी ब्रह्मचर्य के आश्रम से घर लौट रहे हैं। इस बाप ने २५ साल में जिन्दगी का जो अनुभव लिया है, वह उन बच्चों को देना जरूरी है—अन्यथा वह अनुभव उन्हें कहाँ से मिलेगा। इसलिए जिन्दगी से जो जाना है, वह बच्चों को सँभलवा देना जरूरी है। उसने जिन्दगी से जो पाया है, वह सौंप देना जरूरी है। घर की, ज्ञान की, अनुभव की सारी चाभियाँ बच्चों को दे देनी है। अब वह वानप्रस्थ हो जायगा, बच्चों को देता जायगा।

और ७५ साल की उम्र में इसके बच्चों के बच्चे जंगल से आने शुरू हो

जायेंगे। तब तक इसके बच्चे ५० साल के हो गये होंगे। अब तो वे भी वानप्रस्थ होने के करीब आ गये। अब यह उनसे नमस्कार ले लेगा और जंगल चला जायगा। अब यह संन्यासी हो जायगा। जीवन की संध्या आ गयी। संसार को देखने की यात्रा पूरी हुई। सुबह हुई, दोपहर हुई और अब साँझ होने लगी। सूरज लौटने लगा अपने घर वापिस। अब इस व्यक्ति के २५ वर्ष प्रभु-स्मरण के हैं।

और बड़े मजे की बात है कि २५ वर्ष वानप्रस्थ-आश्रम में रहकर जो संन्यास आश्रम में गया है, वह व्यक्ति ही, जो बच्चे समाज से आयेंगे, उनके लिए गुरु का काम कर देगा। और **जिस समाज में बूढ़े गुरु न हों, उस समाज में गुरु होते ही नहीं।** आज विद्यार्थी और गुरु के बीच दो-चार साल का ही फासला होता है। कभी-कभी नहीं भी होता और कभी-कभी विद्यार्थी भी उम्र में ज्यादा हो जाता है। अब अगर विद्यार्थी ही उम्र में ज्यादा हो गुरु से तो वे संबंध निर्मित नहीं हो सकते जो ७५ साल के जीवन की सारी अनुभूतियों को लिये हुए आदमी के साथ छोटे बच्चों के हो सकते हैं।

जीवन का शिखर था वह आदमी। उसके रोयें-रोयें में जीवन अपनी छाप छोड़ गया है। **उसकी स्वाँस, स्वाँस में जीवन अपना अनुभव छोड़ गया है।** उसकी धड़कन, धड़कन में जीवन सारी संपत्ति छोड़ गया है। उसके चेहरे की झुर्री, झुर्री में जीवन की प्रौढ़ता और जीवन का सब कुछ छिपा है। जब छोटे बच्चे जंगल आकर और इस ७५ साल—८० साल—१०० साल के बूढ़े के पास बैठते तो स्वाभाविक था कि उनके मन में आदर और पूजा का भाव उठता। इस आदमी में कोई वासना न होती, निर्वासना हो जाता वह। वह पूज्य मालूम पड़ता, वह भगवान् मालूम पड़ता था।

इसलिए वे बच्चे कह सके कि गुरु ब्रह्मा है। आज के गुरु को वैसा नहीं कहा जा सकता। तब वह बिलकुल परमात्मा जैसा ही लगता था, जिसमें वासना विलीन हो गयी, जिसको कोई इच्छा न रही, जिसको चीजों का कोई मोह न रहा। घटनाएँ कुछ भी घट जायँ, उसको एक-सा ही लेने लगा, जिसका चित्त अनासक्त हुआ। जिसके लिए सब बचे तो, न बचे तो—सब बराबर हो गया। **ऐसे जीवन के शिखर पर बैठे हुए वृद्ध के पास अगर बच्चे अनुभव करते कि वह परमात्मा है तो आश्चर्य नहीं।**

लेकिन आज का गुरु सोचे कि उसे कोई परमात्मा माने तो वह पागल है। उसे परमात्मा मानने का कारण ही नहीं रह गया है। सारी बुनियाद गिर गयी है और हम कहते थे कि **गुरु होने के योग्य ही वही हुआ जो सारे जीवन को जान कर आ गया,** अन्यथा गुरु नहीं हो सकता था। **आज जो गुरु है, वह सिर्फ इनफार्मेटिव है।** उसके पास कुछ सूचनाएँ हैं, जो विद्यार्थी के पास नहीं

हैं। लेकिन जहाँ तक जीवन का, एक्जिस्टेन्स का, अस्तित्व का सम्बन्ध है, उसमें और विद्यार्थी में कोई बुनियादी फर्क नहीं है।

अक्सर ऐसा हो जाता है कि यूनिवर्सिटी में लड़के भी उसी लड़की को प्रेम करने लग जाते हैं और शिक्षक भी। तब सब कॉम्पिटीटिव हो जाता है। एक ही लड़की के लिए स्पर्धा हो सकती है। कक्षा में तब इस बच्चे के मन में इस गुरु के प्रति कौन-सा आदर हो सकता है? यह गुरु भी उसी पान की दूकान पर पान खाता है, यह लड़का भी उसी पान की दूकान पर पान खाता है। यह गुरु भी उसी फिल्म को देखता है, उसी की बगल में बैठ कर उसका विद्यार्थी भी देखता है। और जब फिल्म में नंगा चित्र आता है तो गुरु की भी रीढ़ सीधी होती है और लड़के की भी रीढ़ सीधी हो जाती है। इन दोनों के बीच कोई जीवनगत भेद नहीं है। लेकिन हमने सोचा यह था कि **जब तक जीवनगत भेद न हो, तब तक गुरु-शिष्य का सम्बंध निर्मित नहीं हो सकता।**

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिर्फ इनफॉर्मेटिव नहीं है, एक्जिसटेन्शियल है और सिर्फ इस पृथ्वी पर, इस देश में ही हमने एक्जिसटेन्शियल, अस्तित्वगत भेद पैदा किया था कि गुरु होना चाहिए जीवन का अस्त और विद्यार्थी होना चाहिए जीवन का उदय। इन दोनों के बीच ५०, ६०, ७० साल का फासला, ६० साल, ७० साल के अनुभव का फासला होता था। और **अनुभव सिर्फ ज्ञान नहीं देता, अनुभव वासनाओं से भी मुक्ति दिला देता है।** और अनुभव, वे सब क्षुद्रताएँ जो कल बड़ी महत्त्वपूर्ण थीं, उनका अंत हो जाता है। और अनुभव कल तक के वे सब जो विकार—क्रोध, काम, लोभ आदि थे, उन सबसे छुटकारा हो जाता है **और जब ऐसे व्यक्ति के पास बच्चे इकट्ठे होते थे तो वे जीवन का दान वापस लेकर वापिस लौटते थे, चिरऋणी होकर वापस लौटते थे।** यह चौथा आश्रम संन्यास का आश्रम था जीवन के क्रम की व्यवस्था ऐसी शास्त्र सम्मत थी।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि जो इस भाँति शास्त्र-सम्मत जीवन की क्रम व्यवस्था में प्रवेश करता है, जीवन के अनुकूल बहता है, वह इन्द्रियों के सुखों को तो उपलब्ध हो ही जाता है, अन्ततः वह आत्मा के आनन्द को भी उपलब्ध हो जाता है और **इस जीवन के क्रम में प्रवाहित होकर अंत में जरूर वह ऐसी जगह पहुँच जाता है, जब 'करने' और 'न-करने' में कोई फर्क नहीं रहता है।**

अर्जुन से कृष्ण यह क्यों कह रहे हैं? अर्जुन से वह यह कह रहे हैं कि अभी तू उस जगह नहीं है, जहाँ से तू संन्यस्त हो सके। अभी तू उस जगह नहीं है, जहाँ से संन्यास फलित हो सके। अभी तू उस जगह नहीं, जीवन के क्रम में,

जहाँ से तू मुक्त हो सके कर्म से। अभी तुझे 'कर्म' और 'न-करने' में समानता नहीं हो सकती। अभी अगर तू न करने को चुनेगा तो जो भी चुनेगा, वह तेरी च्वाइस (चुनाव) होगी। लेकिन एक ऐसी घड़ी भी आती है जीवन के प्रवाह में, जब करना और 'न-करना' बराबर हो जाता है। चुनाव नहीं होता, च्वायसलेस हो जाता है सब, चुनाव रहित हो जाता है सब।

तो कृष्ण ने पहले जोर दिया अर्जुन को कि तू क्षत्रिय है। वह इस मुल्क के द्वारा खोजे गये विज्ञान का एक हिस्सा था—वर्ण। और अब वे एक-दूसरे विज्ञान के हिस्से पर जोर दे रहे हैं—आश्रम, वर्णाश्रम पर। **मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में बड़ा-से-बड़ा कॉन्ट्रीब्यूशन, बड़ा-से-बड़ा दान जो हम जगत् को दे सके हैं, वह वर्ण और आश्रम की धारणा है।** तो अब वे दूसरी बात कह रहे हैं, अब वे कह रहे हैं कि तू शास्त्र-सम्मत आचरण कर। इसका यह मतलब नहीं कि वेद में लिखा है इसलिए, इसका कुल मतलब यह हुआ कि उस दिन तक जितने भी समझदार लोग हुए थे, सब ने यही कहा, इसलिए। सब ने निरपवाद रूप से यही कहा, इसलिए। जो भी जाना गया है, वह इसकी सहमति देता है कि तू ऐसे जीवन के साथ बह और एक दिन वह घड़ी आयेगी जिस दिन करना और 'न-करना' बराबर हो जायगा। लेकिन उसे आने दे, उसके लिए दौड़-धूप मत कर। भाग कर उसे नहीं पाया जा सकता। जिन्दगी से बच कर तू उसे नहीं ला सकता। जिन्दगी में उतर गहरा और जिन्दगी को ही तुझे पार निकालने दे, जिन्दगी ही तुझे पार कर दे।

पानी का एक नियम इस सम्बन्ध में ख्याल रखें कि अगर कभी आप पानी में गिर गये हों और तैरना न जानते हों, या तैरना जानते हों और कभी पानी में भँवर में पड़ गये हों, उसमें आप फँस गये हों तो कृष्ण के इस सूत्र को याद रखना। **यह जीवन के भँवर का सूत्र नदी के भँवर में भी काम आता है।** अगर नदी के भँवर में फँस गये हैं तो हम साधारणतः क्या करेंगे? लड़ेंगे भँवर से। लड़ेंगे कि डूबेंगे, लड़े कि डूबे। क्योंकि जितने जोर से आप भँवर से लड़ेंगे, उतनी ही आपकी शक्ति कम होगी, भँवर की कम नहीं होगी। और जितनी कमजोर होगी आपकी शक्ति, भँवर की ताकत उतनी ज्यादा हो जायगी—तुलनात्मक (कम्पेरेटिवली)। थोड़ी देर में आप थक गये होंगे और भँवर अपनी ताकत में होगा—उतनी ही ताकत में जितना तब था, जब लड़ाई शुरू हुई थी। फिर वह आप कमजोर आदमी को नीचे डुबा लेगा। इसलिए जो लोग तैरने का शास्त्र जानते हैं, वे कहते हैं कि **अगर भँवर में फँस जाओ तो लड़ना मत। अपनी तरफ से भँवर में डूब जाना।** भँवर के साथ ही डूब जाना। भँवर के साथ खूबी यह है कि भँवर नदी के सतह पर बड़ा होता है

और नीचे छोटा होता जाता है। उसके वर्तुल छोटे होते जाते हैं। नीचे उसका स्क्रू छोटा होता जाता है। ऊपर से निकलना बहुत मुश्किल है। **नीचे वह इतना छोटा हो जाता है कि उसके भीतर रहना मुश्किल है, आप एकदम बाहर हो जाते हैं।** और अगर लड़े तो बहुत मुश्किल है, अगर नहीं लड़े उसके साथ डूब गये तो खुद भँवर ही आपको अपने बाहर कर देता है।

जीवन के भँवर से भी अगर हम लड़ें तो उलझ जाते हैं। कृष्ण कहते हैं कि जीवन का, सृष्टि का जो क्रम है, उसके साथ ही बह, जल्दी मत कर। जल्दी हो नहीं सकती, जल्दी मत कर। धैर्य से उसके साथ बह। अपने-आप वह घड़ी आ जाती है। जीवन के समस्त कर्मों को करते हुए अपने को कर्ता भर मत मान और वह घड़ी आ जाती है, जिस दिन करना और 'न-करना', हार और जीत, जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख सब बराबर हो जाते हैं।

> **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।**
> **असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥**
> **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**
> **लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥**

अर्थ : "इससे तू अनासक्त हुआ निरंतर कर्तव्य कर्म का अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि **अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है।** जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति-रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तथा लोक-संग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने के ही योग्य है।"

आचार्यश्री : कृष्ण कह रहे हैं कि इस भाँति तू कर्म से मत भाग, भागने की मत सोच। न तो वह संभव है, न उपादेय। **संभव भी यही है—उपादेय भी यही है कि तू अनासक्त कर्म में प्रवृत्त हो।** इस अनासक्त शब्द को थोड़ा समझें। साधारणतः हमारे जीवन में अनासक्त होने का कोई अनुभव नहीं होता है। इसलिए यह शब्द हमारे लिए बहुत विजातीय, फॉरेन है। यह हमारे अनुभव में कहीं होता नहीं, इसलिए इसे और भी ठीक से समझना पड़ेगा।

हमारे अनुभव में दो शब्द आते हैं—आसक्त और विरक्त। अनासक्त कभी नहीं आता। या तो हम किसी चीज की तरफ आकर्षित होते हैं या किसी चीज से विकर्षित होते हैं, या तो अट्रैक्ट होते हैं या रिपेल्ड होते हैं। सुन्दर हुआ कुछ तो आकर्षित होते हैं, कुरूप हुआ कुछ तो विकर्षित होते हैं। सुन्दर हुआ तो आसक्ति बनती है मन में, पाने की, सुन्दर नहीं हुआ तो विरक्ति बनती है मन में, छोड़ने की। या तो हम दौड़ते हैं किसी चीज को पाने के लिए और या हम दौड़ते हैं किसी चीज से बचने के लिए। ये दो हमारे अनुभव हैं। या तो हम किसी चीज की तरफ जाते हैं या किसी चीज की तरफ से आते हैं। लेकिन अनासक्ति बड़ी और बात है। इन दोनों से अलग। **अनासक्ति इन दोनों का**

मध्यबिन्दु है। द मिडिल प्वाइंट। ठीक इन दोनों के बीच में जहाँ न तो अट्रैक्शन काम करता है, न रिपल्सन काम करता है।

बहुत अद्भुत बिन्दु है **अनासक्ति का, जहाँ से न तो हम किसी चीज के लिए आतुर होकर पागल होते हैं और न आतुर होकर बचने के लिए पागल होते हैं।** जहाँ हम किसी चीज के प्रति कोई रुख (रुचि) ही नहीं लेते, जहाँ किसी चीज के प्रति हमारी कोई दृष्टि ही नहीं रहती, हम बस साक्षी ही होते हैं। **अनासक्त का अर्थ है विरक्त भी नहीं, आसक्त भी नहीं।**

विरक्त होना बहुत आसान है। आसक्ति का ही दूसरा हिस्सा है इसलिए, और जिस चीज में हमारी आसक्ति होती है, उसमें ही आज नहीं कल हमारी विरक्ति अपने-आप हो जाती है। आज एक मकान में बहुत आसक्ति है, कल वह मिल जायगा, परसों उसमें रहेंगे। दस दिन बाद भूल जायँगे, आसक्ति खो जायगी। फिर धीरे-धीरे विरक्ति आ जायगी। जिस दिन आपको कोई दूसरा मकान दिख जायगा, आसक्ति से पकड़ने के लिए उसी दिन इस मकान से विरक्ति हो जायगी। **जिस चीज से भी हम आकर्षित होते हैं, किसी न-किसी दिन उससे विकर्षित होते हैं।** जो चीज हमें खींचती है, किसी दिन हम उससे हटते हैं। **आकर्षण और विकर्षण, अट्रैक्शन ओर रिपल्शन एक ही प्रक्रिया के दो हिस्से हैं। अनासक्ति इस पूरी प्रक्रिया के पार है, ट्रांसेन्डेन्ट हैं। वह इन दोनों प्रक्रियाओं के ऊपर अलग अतीत है।**

अनासक्त का मतलब है कि न हमें खींचती है चीज, न हमें हटाती है, न हमें बुलाती है, न हमें भगाती है। हम खड़े रह गये हैं। **बुद्ध ने इस अनासक्ति के लिए उपेक्षा** शब्द का प्रयोग किया है। **अर्थ यही है। न इस तरफ, न उस** तरफ। दोनों तरफ से उपेक्षा है। न आसक्ति, न विरक्ति, दोनों तरफ से इन्डिफरेन्स है। न तो धन खींचता है, न धन भगाता है। **कृष्ण ने अनासक्ति का प्रयोग किया है, महावीर ने वीतराग शब्द का प्रयोग किया है।** राग, विराग और वीतराग। ये तीन भिन्न शब्द हैं। महावीर कहते हैं कि न राग हो, न विराग हो, **वीतराग** हो। दोनों के पार हो जायँ। बुद्ध कहते हैं, जहाँ न आकर्षण, जहाँ न विकर्षण—**उपेक्षा** हो, इंडिफेरेन्स हो। दोनों बराबर हो जायँ। कृष्ण कहते हैं **अनासक्ति**, जहाँ न आसक्ति हो, न विरक्ति हो। दोनों ही न रह जायँ। लेकिन आसक्त भी कर्म करता है और विरक्त भी कर्म करता है। अनासक्त क्या करेगा?

आसक्त जो कर्म करता है, विरक्त उससे उलटा कर्म करता है। अगर आसक्त धन कमाने का काम करता है तो विरक्त धन छोड़ने का, त्यागने का कर्म करता है। अगर आसक्त पदों का लोलुप होता है और पदों की सीढ़ियाँ

चढ़ने के लिए दीवाना होता है तो विरक्त पदों से भागने के लिए। सीढ़ियाँ उतरने को आतुर व उत्सुक होता है। **आसक्त और विरक्त दोनों कर्म में रत होते हैं, लेकिन दोनों के रत होने का ढंग विपरीत होता है।** वे एक-दूसरे की तरफ पीठ किये होते हैं। अनासक्त क्या करेगा? अनासक्त न तो आसक्त की तरह कर्म करता है और न विरक्त की तरह। अनासक्त के कर्म करने की क्वालिटी (गुण) बदल जाती है। इसे समझ लें।

विरक्त का काम करने का रुख उलटा हो जाता है। भीतरी चित्त जरा भी नहीं बदलता है, सिर्फ कर्म की दिशा प्रतिकूल हो जाती है। अगर आसक्त सीधा खड़ा है तो विरक्त शीर्षासन लगा कर खड़ा हो जाता है ओर कोई फर्क नहीं होता। भीतर आदमी वही का वही होता है। क्वालिटी जरा भी नहीं बदलती, गुण जरा भी नहीं बदलता, भीतर आदमी वही का वही होता है। एक आदमी है, उसके पास रुपया ले जाओ तो उसके मुँह में पानी आने लगता है। एक दूसरा आदमी है, उसके सामने रुपया ले जाओ तो वह आँख बन्द कर लेता है। वह राम-राम जपने लगता है। दोनों एक-से आदमी हैं। रुपया दोनों के लिए सिगनीफिकेन्ट है, महत्त्वपूर्ण है। हाँ, एक के लिए महत्त्वपूर्ण है, राल टपकती है, दूसरे के लिए भी महत्त्वपूर्ण है, इसलिए घबड़ा कर उसकी आँख बन्द हो जाती है। लेकिन दोनों शीर्षासन एक-दूसरे के प्रति कर रहे हैं। लेकिन, रुपये के मामले में दोनों का गुण-धर्म एक है। **दोनों रुपयों में बहुत उत्सुक हैं।** एक पक्ष में, दूसरा विपक्ष में। एक मित्र की तरह, एक शत्रु की तरह। लेकिन, रुपयों के प्रति किसी की उपेक्षा नहीं है।

एक है, जो स्त्री के पीछे भागता है, एक है कि स्त्री दिखी कि भागा। इन दोनों में बुनियादी गुणात्मक फर्क नहीं है। इनके कृत्य में फर्क है। फर्क है दिशा का। इनके चित्त में फर्क नहीं है। **इनके चित्त का बिन्दु**, इनके चित्त का **आबजेक्ट**, इनके चित्त का **विषय एक** हो है। काम-वासना के एक पक्ष में है, एक विपक्ष में है। अनासक्त का गुण-धर्म बदलता है। अनासक्त दोनों काम कर सकता है, जो विरक्त करता है, वह भी कर सकता है, जो आसक्त करता है, वह भी कर सकता है। लेकिन करने वाला चित्त बिलकुल और ढंग का होता है। उस चित्त का क्या फर्क है, वह ख्याल में ले लेना है।

न तो आसक्त साक्षी, विटनेस हो सकता है, न विरक्त साक्षी हो सकता है, क्योंकि दोनों में राग है। आपने कभी ख्याल किया कि राग शब्द का क्या मतलब होता है? इसका मतलब होता है रंग, कलर। **राग का मतलब होता है रंग। दोनों के चित्त रँगे हुए हैं; उसी से जिन पर उनकी नजर है।** आसक्त का चित्त रँगा हुआ है रुपये से—मित्र की तरह। विरक्त का चित्त रँगा हुआ है

रुपये से,—शत्रु की तरह। **अनासक्त का चित्त रँगा हुआ नहीं है।** रुपया उस पर कोई प्रतिबिम्ब ही नहीं बनाता। रुपया उसको रंगता ही नहीं। रुपया वहाँ और अनासक्त यहाँ। उन दोनों के बीच डिस्टेन्स होता है। अर्थात् **अनासक्त साक्षी होता है।** वह देखता है कि यह स्त्री है, यह रुपया है—बात खत्म हो गयी। मैं, मैं हूँ। यह रुपया है। यह मकान है। यह स्त्री है। यह पुरुष है।

बुद्ध एक जंगल में बैठे हैं। पूर्णिमा की रात्रि है। एक गाँव से कुछ मन-चले युवक एक वेश्या को लेकर चले आये हैं। पूर्णिमा की रात, झील का तट। उन्होंने आकर खूब शराब पी ली। उस वेश्या को नग्न कर दिया, उसके वस्त्र छिपा दिये। जब वे शराब में काफी बेहोश हो गये तो वह वेश्या निकल भागी, लेकिन नग्न ही, कपड़े तो उसे मिले नहीं। जब आधी रात बीते उन्हें थोड़ा होश आया तो उन्हें ख्याल हुआ कि हम जिसको उपस्थित मान कर राग-रंग कर रहे हैं, वह नदारद है। वे उस वेश्या को उपस्थित मानकर बातें किये जा रहे थे, गीत गाये जा रहे थे, नाचे चले जा रहे थे। आधी रात गये उन्हें पता चला कि हम बड़ी भूल में पड़े हैं, वह स्त्री तो नदारद है। वह यहाँ है ही नहीं। बड़ी मुश्किल में पड़े, उसे कहाँ खोजें! खोजने निकले।

थोड़ी ही दूर एक वृक्ष के नीचे बुद्ध बैठे थे। रात है, पूर्णिमा का चाँद है। वह देख रहे हैं चाँद को। यहाँ तक रास्ता एक ही है, इसलिए स्त्री यहाँ से तो निकली ही है। तो उन्होंने जाकर हिलाया और कहा कि सुनो, एक नग्न स्त्री, सुन्दर वेश्या यहाँ से भागती हुई गयी है, जरूर तुमने देखी होगी। बुद्ध ने कहा कि तुम मुझे बड़ी मुश्किल में डालते हो, क्योंकि **आदमी को वही दिखायी पड़ता है जो वह देखना चाहता है।** उन्होंने कहा कि अंधे तो हो नहीं। आँख तो है ही। यहाँ से एक सुन्दर स्त्री निकली है, हजारों की भीड़ में भी दिखायी पड़ जाय, ऐसी स्त्री। यहाँ तो जंगल का सन्नाटा है। बुद्ध ने कहा, कोई निकला जरूर, क्योंकि मैं देखता था चाँद को तो कोई छाया बीच से गुजरी। लेकिन, स्त्री थी या पुरुष था, कहना मुश्किल है। क्योंकि, **जब तक मेरा पुरुष बहुत आतुर था स्त्रियों के लिए तभी तक फर्क भी कर पाता था।** अब फर्क करने का कोई कारण भी तो नहीं रहा। और सुन्दर थी या असुन्दर यह तो और भी कठिन सवाल है। क्योंकि **जब से अपने को जाना तब से न कुछ सुन्दर रहा न कुछ असुन्दर रहा।** चीजें जैसी है, हैं। कुछ को लोग सुन्दर कहते, कुछ को लोग असुन्दर कहते। वह उनके अपनी पसंदगियों के ढंग हैं। क्योंकि एक ही चीज को कोई सुन्दर कहता है, कोई असुन्दर। जब से अपनी कोई पसंदगी ही न रही, कोई नापसंदगी ही न रही, तब से न कुछ सुन्दर रहा, न कुछ असुन्दर रहा। उन्होंने कहा कि हम भी कहाँ के पागल से उलझ गये हैं। हम खोजें। इस आदमी से कुछ सहारा न मिलेगा।

बुद्ध खूब हँसने लगे और उन्होंने कहा कि **कब तक उसे खोजते रहोगे। अच्छा हो, इतनी अच्छी रात है, अपने को ही खोजो।** और वह मिल भी जायेगी तो क्या मिलेगा? अपने को खोज लो तो शायद कुछ मिल भी जाय। पता नहीं उन्होंने सुना या नहीं। नहीं सुना होगा। आदमी बहुत बहरा है, दिखायी पड़ता है सुनता हुआ, सुनता नहीं है। दिखायी पड़ता है देखता हुआ, देखता नहीं है। दिखायी पड़ता है समझता हुआ, समझता नहीं।

यह जो बुद्ध ने कहा यह अनासक्त की चित्त दशा का गुण है। **देखते हुए भी भेद नहीं करता**—क्या सुन्दर है, क्या असुन्दर। **करता हुआ भी भेद नहीं करता,** जीते हुए भी **भेद नहीं करता—क्या पकड़ूँ, क्या छोड़ूँ।** क्या लाभ है, क्या हानि है? साक्षी की तरह, विटनेस की तरह, एक गवाह की तरह जिन्दगी में चलता है।

राम अमेरिका गये। एक जगह से निकल रहे थे, कुछ लोगों ने पत्थर फेंके, और गालियाँ दी। राम बहुत हँसते हुए वापस लौटे और मित्रों से कहने लगे आज तो बड़ा मजा आ गया। राम को आज बड़ी गालियाँ पड़ीं। कुछ लोगों ने पत्थर भी मारे। लोग कहने लगे कि किसकी बात कर रहे हैं आप! तो उन्होंने कहा कि इस राम की बात कर रहा हूँ। अपनी छाती की तरफ हाथ करके कहा, इस राम की बात कर रहा हूँ। आज इन पर काफी गालियाँ पड़ीं, आज इनपर काफी पत्थर पड़े। लोगों ने कहा आप पर ही पड़े ना?

राम ने कहा नहीं, हम तो देखते थे। हम पर पड़े नहीं, हम देखते थे। हम साक्षी थे, हम गवाह थे। हमने देखा कि पत्थर पड़ रहे हैं। हमने देखा कि गालियाँ दी जा रही हैं। तीन थे वहाँ—गाली देनेवाले थे, जिसको गाली दी जा रही थी वह था। एक और भी था—मैं भी था वहाँ जो देख रहा था। अनासक्त का यह गुण धर्म है।

अनासक्त देखता है जिन्दगी को। न इस तरफ भागता है, न उस तरफ भागता है। और परमात्मा जो ले आता है जिन्दगी में, उसमें से चुपचाप साक्षी की भाँति गुजर जाता है। इसलिए कृष्ण ने उल्लेख किया जनक का। कृष्ण जब उल्लेख करें तो सोचने जैसा है। कृष्ण ने उल्लेख किया जनक का कि जनक जैसे ज्ञानी। और अर्जुन तो इतना ज्ञानी नहीं है। उनका मतलब साफ है। **वह यह कह रहे हैं कि तू तो इतना ज्ञानी नहीं है कि तू वैराग्य की बात करे।** जनक जैसा ज्ञानी भी छोड़ने को, भागने को आतुर न हुआ। जनक जैसा ज्ञानी चुपचाप वहीं जिये चला गया, जहाँ था। तो क्या था सूत्र जनक का।

सूत्र था अनासक्ति-योग। सूत्र था, कि जहाँ हमें दो दिखायी पड़ते हैं वहाँ तीसरा भी दिखायी पड़ने लगे 'द थर्ड फोर्स।' दो तो हमें सदा दिखायी पड़ते

हैं, तीसरा दिखायी नहीं पड़ता है। आसक्त को भी दो दिखायी पड़ते हैं—मैं और वह जिस पर मैं आसक्त हूँ। विरक्त को भी दो दिखायी पड़ता है—मैं और वह जिस पर विरक्त हूँ। अनासक्त को तीन दिखायी पड़ते हैं। वह जो आकर्षण का केन्द्र है या विकर्षण का। वह जो आकर्षित हो रहा है और वह जो विकर्षित हो रहा है। और एक और भी जो दोनों को देख रहा है। यह जो दोनों को देख रहा है, अर्जुन से कृष्ण कहते हैं, तू इसी में प्रतिष्ठित हो जा। इसमें तेरा हित तो है ही, इसमें तेरा मंगल तो है ही, इसमें लोक मंगल भी है। क्यों, इसमें क्या लोक मंगल है? यह मेरी समझ में तो पड़ता है। क्या यह आपकी भी समझ में पड़ता है कि इसमें अर्जुन का मंगल है? **अनासक्त कोई हो जाय तो जीवन के परम आनंद के द्वार खुल जाते हैं।**

आसक्त भी दुखी होता है, विरक्त भी दुखी होता है। आसक्त भी सुखी होता है, विरक्त भी सुखी होता है। बुद्ध ने कहा है, जिसे हम प्रेम करते हैं वह आ जाय तो सुख देता है, जिसे हम घृणा करते हैं, वह चला जाय तो सुख देता है। जिसे हम घृणा करते हैं, वह आ जाय तो दुख देता है, जिससे हम प्रेम करते हैं वह चला जाय तो दुख देता है। फर्क क्या है? दोनों ही दोनों काम करते हैं। हाँ, किसी के आने से सुख होता है किसी के जाने से। किसी के जाने से सुख होता है, किसी के आने से—बस इतना ही फर्क है।

मित्र भी सुख देते हैं, मित्र भी दुख देते हैं। शत्रु भी सुख देते हैं, शत्रु भी दुख देते हैं असल में जो भी सुख देता है, वही दुख भी देगा। और जो भी दुख देगा वह सुख भी देगा। क्योंकि **सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।** जो ऊपर होता है वह हमें दिखायी पड़ता है, जो नीचे होता है वह छिप जाता है। थोड़ी देर बाद जब एक पहलू से ऊब जाते हैं। और उलटते हैं तब दूसरा पहलू दिखायी पड़ता है। लेकिन कृष्ण कह रहे हैं कि तेरा तो मंगल होगा ही, लोक मंगल भी होगा। लोक मंगल क्या होगा? सबका मंगल क्या होगा?

असल में जो आसक्त हैं वे भी और जो विरक्त हैं वे भी जगत को आनंद के मार्ग पर ले जानेवाले नहीं बनते। नहीं बनते हैं दो कारणों से। एक तो जो स्वयं ही आनंद के मार्ग पर नहीं हैं उनके जीवन से किसी को भी आनंद नहीं मिल सकता। क्योंकि हम वही दे सकते हैं जो हमारे पास है। हम वह नहीं दे सकते जो हमारे पास नहीं है। दूसरा, जो व्यक्ति जितना ही आसक्त या विरक्त होकर कर्म में लगता है उतना ही तनावपूर्ण, उतना ही टेन्स उसका व्यक्तित्व होता है।

ध्यान रहे कि हम करीब-करीब ऐसे ही हैं जैसे कोई पानी में पत्थर फेंके। झील है, एक पत्थर फेंक दिया है तो वह पत्थर तो थोड़ी देर में नीचे बैठ जाता

है। तलहटी में, भूमि में बैठ जाता है। लेकिन पत्थर से उठी लहरें फैलती चली जाती हैं। दूर अनंत किनारों तक फैलती चली जाती हैं। ठीक वैसे ही जब भी हमारे चित्त में जरा सा तनाव उठता है तो हम मनुष्य के जीवन के सरोवर में तरंगे पैदा करते हैं। फिर चाहे हमारा तनाव चला भी जाय लेकिन वे तरंगे फैलती चली जाती हैं। वे न मालूम कितने लोगों को स्पर्श करती और न मालूम कितने लोगों के जीवन में अमंगल बन जाती हैं। **सिर्फ अनासक्त व्यक्ति के भीतर से तनाव की, चिन्ता की, दुख की, पीड़ा की विकृत तरंगे नहीं उठतीं। सिर्फ अनासक्त व्यक्ति से जो तरंगे उठती हैं वे ही सदा मंगलकारी हैं।** इसलिए लोकमंगल होता है।

लोक-मंगल यहाँ बहुत ही गहरे अर्थों में कहा है। हम चौबीस घंटे अपने चारों तरफ किरणें रेडिएट कर रहे हैं। जो भी हमारे भीतर है वह रेडिएट हो रहा है। वह विकीर्ण हो रहा है, उसकी किरणें हमारे चारों तरफ फैल रही हैं। हर आदमी अपने चारों ओर प्रतिपल उसी तरह लहरें उठा रहा है, जैसे फेंका गया पत्थर झील में उठाता है। हम कल समाप्त हो जायेंगे। लेकिन हमारे द्वारा उठायी गयी लहरें अनन्त हैं। वे कभी समाप्त नहीं होंगी। वे चलती ही रहेंगी। वे कभी दूर तारों के निवासियों को भी छुयेंगीं। अब वैज्ञानिक कहते हैं कोई पचास हजार तारों पर जीवन है। अभी तक उन्होंने कोई ४ अरब तारे खोज निकाले हैं। जीवन वहाँ समाप्त नहीं होता मालूम पड़ता है। हमारी सामर्थ्य चुक जाती है उसके आगे। एक-एक व्यक्ति से जो तरंगें उठती हैं वह उठती ही चली जाती हैं, व्यक्ति कभी का समाप्त हो जायगा और उसके द्वारा उठायी गयी तरंगें अनंतकाल तक उठती रहती हैं—अनादि, अनंत।

कृष्ण कह रहे हैं कि जो अनासक्त चित्त है, उसके भीतर जो गुण परिवर्तन होता है **उससे जो तरंगें उठती हैं वे बिलकुल बिना जाने, परोक्ष, चुपचाप लोगों के जीवन में मंगल की वर्षा कर जाती हैं।** तो हे अर्जुन! तू लोकमंगल के लिए भी अनासक्त हो जा। अपने लिये तो अनासक्त होना उचित ही है, आनंदपूर्ण ही है, औरों के लिए भी आनन्दपूर्ण है। इसलिए जैसे जनक और सब जानने वालों ने जीवन से भागने की कोई चेष्टा नहीं की, तू भी मत भाग। भागने से कभी कोई कहीं पहुँचा भी नहीं है। भागने से कभी कोई रूपान्तरित भी नहीं हुआ है। भागने से कभी कोई क्रान्ति भी घटित नहीं होती। क्योंकि **भागते तो केवल वे ही हैं जो नहीं जानते, जो जानते हैं वे भागते नहीं हैं।** स्वयं को रूपान्तिरित करते हैं। स्वयं को बदल डालते हैं। विरक्ति भागना है, आसक्ति से और एक बात और इस सम्बन्ध में। फिर हम दूसरा श्लोक लें।

जो व्यक्ति आसक्ति में जियेगा उसके मन में सदा विरक्ति के ख्याल आते

ही रहेंगे, आते ही रहेंगे। क्योंकि जिन्दगी पोलर है, ध्रुवीय है। यहाँ हर चीज का दूसरा ध्रुव है। यहाँ बिजली का अगर पॉजीटिव पोल है तो निगेटिव पोल भी है। यहाँ अगर अँधेरा है तो उजाला भी है। यहाँ अगर सर्दी है तो गर्मी भी है। यहाँ अगर जन्म है तो मृत्यु भी है। यहाँ जीवन में हर चीज का दूसरा विरोधी हिस्सा है। तो **जो व्यक्ति आसक्ति में जियेगा उसको जिन्दगी में हजारों बार विरक्ति के दौरे पड़ते रहेंगे,** उसको विरक्ति का फिट आता रहेगा। आप सबको आता है। कभी ऐसा लगता है सब बेकार है, सब छोड़ दो। घड़ी भर बाद दौरा चला जाता है और लगता है कि सब सार्थक है। फिर वह सब में लग जाता है। **जो लोग विरक्त हो जाते हैं उनको आसक्ति के दौरे पड़ते रहते हैं,** उनको भी फिट आते हैं। जो आश्रम में बैठ जाते हैं, उनको भी एकदम से ख्याल आ जाता है कि सारी दुनिया सिनेमागृह में बैठी होगी और हम यहाँ बैठे हैं। जो मन्दिर में बैठते होंगे उनको भी ख्याल आ जाता है कि पड़ोसी दूकान पर पहुँच गया होगा। हम यह क्या कर रहे हैं ? जो आसक्त है उसकी जिन्दगी में विरक्ति बीच-बीच में प्रवेश करती रहेगी, जो विरक्त हैं उसकी जिन्दगी में आसक्ति बीच-बीच में प्रवेश करती रहेगी।

असल में जिस हिस्से को हमने दबाया और छोड़ा है वह असर्ट (Assert) करता रहेगा, वह हमला करता रहेगा। वह कहेगा, मैं भी हूँ, मुझे भी थोड़ा ध्यान दो। लेकिन, **सिर्फ अनासक्त व्यक्ति ऐसा है जिसकी जिन्दगी में दौरे नहीं पड़ते, क्योंकि न वहाँ विरक्ति है, न वहाँ आसक्ति है।** इसलिए दौरे पड़ने का कोई उपाय नहीं है। दौरा विपरीत का पड़ता है। वहाँ अब कोई विपरीत ही नहीं है। वह नान-पोलर है। अब इसको समझ लेना आप।

अनासक्ति जो है वह नॉन-पोलर है, अध्रुवीय है। इसलिए अनासक्त जो हुआ, वह ध्रुवीय जगत के बाहर हो जाता है—जहाँ ऋण और धन चलता है, जहाँ स्त्री और पुरुष चलते हैं, जहाँ हानि और लाभ चलता है। वे जितने द्वन्द्व हैं, ध्रुवीय हैं, पोलर हैं। **जो व्यक्ति अनासक्त हुआ वह अद्वैत में प्रवेश कर जाता है।** क्योंकि अनासक्ति नॉन-पोलर है। **ब्रह्म में केवल वही प्रवेश करते हैं जो अनासक्त हैं। जो आसक्त हैं, विरक्त हैं, वे द्वैत में ही भटकते रहते हैं।** असल में जिसने भी पक्ष लिया, विपक्ष लिया, वह पोलर में गया, वह ध्रुवीय जगत में प्रवेश कर गया। वह ब्रह्म को कभी स्पर्श नहीं कर पाता। ब्रह्म को वही स्पर्श करता है जो दो की जगह एक में उठता है। आसक्ति और विरक्ति दोनों से उठना पड़े। और इन दोनों से उठने की जो विधि स्थिति है वह कर्म में साक्षी बन जाता है।

प्रश्न : आचार्यश्री, अनासक्त कर्म, साधना है या सिद्धि का सहज प्रतिफलन है। इसे विस्तार से समझाइये।

आचार्यश्री : मनुष्य के पास जितने शब्द हैं वे सभी शब्द कुछ बताते हैं, कुछ समझाते हैं, और कुछ नासमझी भी पैदा कर देते हैं, और कुछ उलझा भी देते हैं। जैसे एक रास्ता है जो मंजिल तक पहुँचता है। जो आदमी रास्ते पर है वह एक अर्थ में मंजिल से जुड़ गया, क्योंकि रास्ता मंजिल से जुड़ा है। जो आदमी रास्ते पर एक कदम चला, वह मंजिल पर भी एक कदम पहुँच गया, क्योंकि रास्ता मंजिल से जुड़ा है। लेकिन एक अर्थ में अभी मंजिल पर कहाँ पहुँचा ! अभी तो सिर्फ रास्ते पर है, अभी तो बहुत चलना है। अगर सौ कदम मंजिल दूर है तो निन्यानबे कदम भी चल ले तो भी रास्ते पर ही है, अभी मंजिल पर कहाँ पहुँचा। अभी तो रास्ते पर ही है। अभी मंजिल कहाँ आयी ? तो एक अर्थ में तो निन्यानबे कदम पर खड़ा हुआ आदमी भी रास्ते पर है, मंजिल पर नहीं है। और एक अर्थ में पहले कदम पर खड़ा हुआ आदमी भी मंजिल पर है क्योंकि एक कदम तो मंजिल निकट आ ही गयी। एक कदम तो कम हुआ। तो साधना और सिद्धि, रास्ते और मंजिल की तरह हैं—अनासक्ति दोनों हैं।

जब आप शुरू करेंगे तब वह साधना है और जब वह पूर्ण होगी तो सिद्धि है। जब आप शुरू करेंगे, पहला कदम रखेंगे तब तो वह साधना ही है, तब तो साधना ही रहेगी। वे चूकेंगे, भूलेंगे, भटकेंगे, गिरेंगे, कभी चित्त विरक्त हो जायगा, कभी आसक्त हो जायगा। फिर सँभलेंगे, फिर पहचानेंगे कि यह तो आसक्ति हो गयी। और ध्यान रहे, आसक्ति उतना धोखा न देगी अनासक्ति का जितना विरक्ति देती है। क्योंकि विरक्ति में ऐसा लगता है अब अभी तो अनासक्ति आ गयी। विरक्ति जल्दी धोखा देती है। आसक्ति तो इतना धोखा नहीं देती। क्योंकि आसक्ति हमारा अनुभव है। विरक्ति अपरिचित है। तो अनेक लोग वैराग्य को ही अनासक्ति समझ लेते हैं। धोखे में पड़ेंगे, भूल होगी। कई दफा लगेगा कि पहुँचे, पहुँचे। और एकदम फिसल जायेंगे और पायेंगे कि कि वहीं खड़े हैं। पोलेरिटी में वापस आ गये। ध्रुवों में वापस गिर गये।

अनासक्ति का पहला कदम तो साधना ही बनेगा। साधना का मतलब, अभी आश्वस्त नहीं हुए कि पहुँच गये, चल रहे हैं। लेकिन चलना ही तो पहुँचने के लिए पहला चरण है। जो चलेगा ही नहीं वह पहुँचेगा भी नहीं। चलना तो पड़ेगा ही। **लेकिन चलना ही पहुँच जाना नहीं है।** यह भी ख्याल रख लेना जरूरी है।

जिस दिन चलने का अन्त होगा, उस दिन पहुँचना होगा। अब इसमें बड़ी उलटी बातें कह रहा हूँ मैं। **जो चलेगा वही पहुँच सकता है। लेकिन जो चलता ही रहेगा वह कभी नहीं पहुँचेगा।** जो नहीं चलेगा वह कभी नहीं

पहुँचेगा और जो 'नहीं-चलने-में' पहुँच जाता है वही पहुँच गया है। लेकिन यह बिलकुल अलग-अलग तल पर बात है लेव्हेल्स (Levels) अलग हैं। एक आदमी सीढ़ियों के नीचे खड़ा है। दूसरा आदमी सीढ़ियाँ पार करके छत पर पहुँच गया है। वह भी खड़ा है सीढ़ी के निकटों। दोनों सीढ़ियों पर नहीं हैं। एक सीढ़ियों के नीचे है और दूसरा सीढ़ियों के ऊपर है। लेकिन जो सीढ़ियों के बीच में है वह दोनों जगह नहीं है। वह खड़ा नहीं है, चल रहा है। न तो वह नीचे की भूमि पर है, न अभी ऊपर पहुँच गया है। अभी वह गिर सकता है वापिस, अभी वह सीढ़ियों पर रुक सकता है, अभी वह पहुँच भी सकता है। सब संभावनाएँ खुली हैं। **अनासक्ति का प्राथमिक कदम तो साधना का होगा, अन्तिम कदम सिद्धि का, होगा।** लेकिन पहचान क्या होगी? जब तक आपको स्मरण रखना पड़े अनासक्ति का, तब तक साधना है और जब स्मरण की कोई जरूरत न रह जाय तब सिद्धि है। जब तक आपको ख्याल रखना पड़े कि अनासक्त रहना है तब साधना है, जब ख्याल न रखना पड़े, आप कैसे भी रहें अनासक्ति ही पायें तब समझना सिद्धि है।

एक जापानी गुड्डा देखा होगा आपने। बाजार में मिलता है। उसे खरीद कर रख लेना चाहिए। दारुमा डॉल्स कहलाते हैं वे गुड्डे। नीचे चौड़े होते हैं और उनके पैरों में सीसा भरा होता है। कैसे ही फेंको उसको, वह सदा पालथी मार कर बैठ जाता है सिद्धासन में। कहीं भी पटको, कुछ भी करो, वह वापस अपनी जगह पर बैठ जाता है। यह सिद्ध है। यह दारुमा डॉल जो है न, यह इसको तुम कुछ भी करो, यह पालथी मारकर अपनी जगह बैठ जाता है।

यह दारुमा शब्द बड़ा अद्भुत है। हिन्दुस्तान से एक फकीर १४ सौ साल पहले चीन गया। उसका नाम था बोधिधर्म। वह एक अनासक्त व्यक्ति था। थोड़े से फूलों में से एक—जो मनुष्य जाति में खिले। बोधिधर्म का जापानी नाम दारुमा है। बोधिधर्म को देखकर वह गुड़िया बनायी गयी, क्योंकि बोधिधर्म को कुछ भी करो, वह अनासक्त ही रहता है। वह सोता है तो अनासक्त है। जागता है तो अनासक्त। कुछ भी करे तो अनासक्त। उसको कहीं से पटको, कुछ भी करो वह वापस अपनी अनासक्ति में रहता है। इसलिए फिर यह गुड़िया बनायी गयी। यह दारुमा डॉल्स जो है वह उस बहुत बड़े सिद्ध पुरुष के रूप में बनायी गयी।

वह गुड़िया अपने घर में रखनी चाहिए। उसे लुढ़का कर देखते रहना चाहिए। वह वापिस अपने पोजीशन में आ जाती है। आप कुछ भी उपाय करें, उसकी पोजीशन नहीं मिटा सकते। जब आपको अपने भीतर ऐसा लगे, कुछ भी हो जाय, दुःख आये, सुख आये, सफलता, असफलता, कोई जिये, कोई मरे,

तूफान टूट जाय, बैंक्रप्ट हो जायँ, दिवालिया हो जायँ, मौत आ जाय, कुछ भी हो जाय आपके भीतर का दारुमा-डॉल जो है, आपकी चेतना जो है, वह हमेशा सिद्धासन लगाकर बैठी रहती है। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता है। तब आप जानना कि सिद्धि हो गयी है। जब तक ऐसा न हो जाय तब तक स्मरण रखना पड़े, होश रखना पड़े। और अगर होश चूके तो या तो आसक्ति आ जाय या विरक्ति आ जाय, तब तक जानना कि साधना है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

अर्थ : "श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार बर्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।"

आचार्यश्री : अंतिम श्लोक की बात और कर लें। बहुत कीमती बात कृष्ण ने उसमें कही है। मनुष्य के चित्त का एक बहुत बुनियादी लक्षण इमीटेशन, नकल है, सौ में से ९९ आदमी आथेन्टिक नहीं होते, प्रामाणिक नहीं होते, इमीटेटिव होते हैं। सिर्फ नकल कर रहे होते हैं। सौ में से ९९ लोग वही नहीं होते जो उन्हें होना चाहिए। वही होते हैं जो वे अपने चारों तरफ लोगों को देखते हैं कि लोग हैं। छोटे बच्चे नकल करते हैं, अनुकरण करते हैं। छोटे बच्चे नकल से ही सब कुछ सीखते हैं। लेकिन हममें से बहुत कम लोग हैं जो छोटे बच्चों की सीमा पार कर पाते हैं। **हममें से अधिक लोग जीवन भर ही छोटे बच्चे रह जाते हैं। हम सिर्फ नकल ही करते हैं।** हम जो देख लेते हैं वही करने लगते हैं।

अगर हम आज से हजार साल पहले भारत के किसी गाँव में जाते तो बच्चे ओंकार की ध्वनि करते मिलते। ऐसा नहीं कि बच्चे बहुत पवित्र थे। अभी उसी गाँव में जायँ तो बच्चे फिल्मी गाना गाते मिलेंगे, ऐसा नहीं कि बच्चे अपवित्र हो गये हैं। नहीं, **बच्चे तो वही करते हैं जो चारों तरफ हो रहा है।** जो बच्चे ओंकार की ध्वनि कर रहे थे वे कोई बहुत पवित्र थे, ऐसा नहीं है, लेकिन ओंकार के ध्वनि से पवित्रता के आने का द्वार खुलता था। और जो बच्चे फिल्म का गीत गा रहे हैं वे कोई अपवित्र हैं, ऐसा नहीं है, लेकिन फिल्म के गीत से पवित्रता का द्वार बन्द होता है। लेकिन वे तो इमीटेट कर रहे हैं। बच्चों की तो बात छोड़ दें।

हम जानते हैं कि बच्चे तो नकल करेंगे ही लेकिन कभी आपने सोचा कि आप इस उम्र तक भी नकल किये ही जा रहे हैं। हम कपड़े वैसे पहन लेते हैं जैसा दूसरे लोग पहन लेते हैं। हम मकान वैसा बना लेते हैं जैसा दूसरे लोगों ने बनाया है। हम पर्दे वैसे लटका लेते हैं जैसा पड़ोसियों ने लटकाया है। हम

कार वैसी खरीद लेते हैं जैसी पड़ोसी लोग ने खरीदे हैं। अमरीका में तो कारों की वजह से मुहल्ले तक जाने जाते हैं। क्योंकि एक मुहल्ले में लोग एक सी ही कार खरीद, लेते हैं—"शेवरलेट नेवरहुड" हो जाती है—शेवरलेट वालों का मुहल्ला। आदमी एक दूसरे को देखकर नकल करने लगता है।

कृष्ण एक और गहरी बात उसमें कह रहे हैं। वे अर्जुन से कह रहे हैं कि कि तू उन पुरुषों में से है जिन पर लाखों लोगों की नजर होती है। तू जो करेगा वही वे लोग भी करेंगे। अगर तू जीवन से भाग गया तो वे भी भाग जायेंगे और हो सकता है कि तेरे लिए जीवन से भागना बड़ा प्रामाणिक हो तो भी वे लाखों लोग बिलकुल गैर प्रामाणिक ढंग से जीवन से भाग जयेंगे।

जब बुद्ध ने संन्यास लिया तो बुद्ध का संन्यास बहुत आथेन्टिक है। **बुद्ध का संन्यास तो उनके प्राणों की पूरी की पूरी पुकार है।** लेकिन लाखों लोग बुद्ध के पीछे संन्यासी हुए। उतने लाखों लोग बुद्ध के हैसियत के नहीं हैं। महावीर ने जब संन्यास लिया तो उनके लिए संन्यास तो नियति है, डेस्टिनी है। उससे अन्यथा नहीं हो सकता। लेकिन महावीर के पीछे लाखों लोग संन्यासी हुए। वे सारे लाखों लोग महावीर की हैसियत के नहीं थे। लेकिन फिर भी मैं कहूँगा कि **अगर नकल ही करनी है तो फिल्म-स्टार की बजाय संन्यासी की ही करनी बेहतर है।** और नकल ही करनी है तो फिर बेहतर है कि महावीर की ही नकल की जाय। क्यों ?, क्योंकि अच्छे की नकल शायद स्वयं के अच्छे का द्वार भी बन जाय। जैसे कि बुरे की नकल निश्चय ही कभी बुरे के आगमन का द्वार बन जाती है।

मैं बुरे के लिए निश्चित करता हूँ और अच्छे के लिए कहता हूँ क्यों ? क्योंकि **अच्छाई चढ़ाई है और बुराई ढलान है।** ढलान बहुत निश्चित बन जाती है। कुछ भी नहीं करना पड़ता। सिर्फ छोड़ दिया और उतर जाते हैं। चढ़ाई पर कुछ श्रम करना पड़ता है। लेकिन अगर कोई कैलास पर किसी की नकल में भी चढ़ गया तो भी कैलास पर तो पहुँच ही जायगा। और कैलास पर पहुँचकर जो घटित होगा वह सारी नकलें तोड़ देगा और उसके प्रामाणिक व्यक्तित्व के भी प्रकट होने का क्षण आ सकता है।

तो कृष्ण यह कह रहे हैं कि हजारों लाखों लोग अर्जुन ! तुझे देखकर जीते हैं। अर्जुन साधारण व्यक्ति नहीं है। अर्जुन उस सदी के असाधारण लोगों में से है। अर्जुन को लोग देखेंगे। अर्जुन जो करेगा वह अनेकों के लिए प्रमाण हो जायगा। अर्जुन जैसे जीयेगा वैसा करोड़ों के लिए अनुकरणीय हो जायगा। तो कृष्ण कहते हैं कि तुझे देखकर जो लाखों लोग जीते हैं, अगर तू भागता है तो

वे भी जीवन से भाग जायेंगे। अगर तू पलायन करता है वे भी पलायन कर जायेंगे। अगर विरक्त होता है तो भी वे विरक्त हो जायंगे।

तो अर्जुन उचित ही है, तू अनासक्त हो जा तो शायद उनमें भी अनासक्ति का ख्याल पहुँचेगा। तेरी **अनासक्ति की सुगंध** उनके नासापुटों को पकड़ ले। तेरे **अनासक्ति का संगीत** हो सकता है उनके भी हृदय के किसी कोने की वीणा को झंकृत कर दे। तेरे उनके भीतर भी **अनासक्ति का आनन्द** हो सकता है उनके भीतर भी **अनासक्ति के** फूल के खिलने की संभावना बन जाय। तो तू उनपर ध्यान रख। यह सिर्फ तेरा ही सवाल नहीं है, क्योंकि तू सामान्यजन नहीं है। तू असामान्य है, तुझे देखकर न मालूम कितने लोग चलते, उठते, और बैठते हैं। तू उनका भी ख्याल कर और अगर तू अनासक्त हो सके तो उन सबके लिए भी तेरा जीवन मंगलदायी हो सकता है।

इस सम्बन्ध में दो बातें अंत में और कहूँ। इधर पिछले ५०-६० वर्षों में पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने कुछ इस तरह की भ्रान्ति पैदा की जो उनको भी अब भ्रान्ति मालूम पड़ने लगी, जिसमें उन्होंने माँ-बाप को, शिक्षकों को, सबको समझाया कि बच्चों को इमीटेशन से बचाओ। यह बात थोड़ी दूर तक सच थी। और थोड़ी दूर तक जो बातें सच होती हैं वे कभी-कभी खतरनाक होती हैं, क्योंकि थोड़ी दूर के बाद वे सच नहीं होतीं। इसमें थोड़ी दूर तक बात सच थी कि बच्चों को हम ढालें न, उनको पैटर्नाइज न करें। उनको ऐसा न करें कि एक ढाँचा दे दें और जबर्दस्ती ढालकर रख दें। तो पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने बहुत जोर से जोर दिया कि बच्चों को ढालो मत, बच्चों को कोई दिशा मत दो, बच्चों को डिसिप्लिन कोई अनुशासन मत दो क्योंकि उससे बच्चों की आत्मा का जो प्रामाणिक रूप है वह प्रकट नहीं हो सकेगा। बच्चे इमीटेटिव हो जायेंगे।

कृष्णमूर्त्ति ने भी इस पर भारी जोर दिया है। लेकिन यह बात थोड़ी दूर तक ही सच है। क्योंकि अगर बच्चे न ढाले जायँ तो भी बच्चे ढलते हैं। हाँ तब बाप नहीं ढालता, तब सड़क के होटल ढाल देती है। तब माँ नहीं ढालती लेकिन फिल्म अभिनेत्री ढाल देती है। तब गीता नहीं ढालती, लेकिन सुबह का अखबार ढाल देता है। और हम किसी बच्चे को जिन्दगी के सारे इम्प्रेशन से, प्रभावों से, मुक्त कैसे रख सकते हैं ? पचास साल से मनोवैज्ञानिकों ने जो कहा तो सारी दुनिया के माँ-बाप बहुत डर गये।

एक जमाना था कि बच्चे घर में घुसते थे तो डरते हुए घुसते थे। आज अमरीका में बाप घर में घुसता है तो बच्चों से डरा हुआ घुसता है कि कोई मनोवैज्ञानिक भूल न हो जाय या कहीं बच्चा बिगड़ न जाय, न्यूरोटिक न हो जाय, कहीं पागल न हो जाय, कहीं दिमाग खराब न हो जाय, कहीं कुछ गड़बड़ न

हो जाय, तो बाप डरते हुए घुसता है घर में। माँ डरती है अपने बच्चों से कुछ कहने में कि कहीं कोई ऐसी चीज न पैदा हो जाये कि कॉम्पलेक्स पैदा हो जाय, दिमाग में ग्रंथि पैदा न हो जाय। कहीं बीमार न हो जाय। सब डरे हुए हैं।

लेकिन इससे हुआ क्या? १८ वीं सदी और १९ वीं सदी में जो बच्चे थे उनसे बेहतर बच्चे हम पैदा नहीं कर पाये। बच्चे तो ढाले ही गये, लेकिन माँ-बाप जो कि बहुत प्रेम से ढालते, माँ-बाप जो कि बहुत केअर और कन्सर्न से ढालते, उन्होंने नहीं ढाला लेकिन बाजार ढाल रहा है उनको, अखबार ढाल रहे हैं, पत्रिकाएँ ढाल रही हैं, डिटेक्टिव्स ढाल रहे हैं, फिल्में ढाल रही हैं।

एक जमाना था कि सारी दुनिया का बाजार ९० प्रतिशत स्त्रियों से चलता था आज दुनिया का बाजार पचास प्रतिशत बच्चों से चलता है। और बच्चों को परसुएड किया जा रहा है क्योंकि कोई भी नयी चीज पकड़ानी है तो पिता को पकड़ाना जरा मुश्किल पड़ती है। बच्चे को पकड़ाना आसान पड़ती है। वह जल्दी पकड़ लेता है और उसके घर में कोई शिस्त कोई अनुशासन नहीं है इसलिए बाहर से जो भी सीखने को मिलता है वह उसे सीख लेता है। अगर आज सारी दुनिया में बच्चे बगावती हैं, कैओटिक (Chaotic) हैं, अराजक हैं तो उसका कुल कारण इतना है कि हम उनके लिए कोई भी आधार, कोई भी अनुशासन, कोई भी दृष्टि, कोई भी दिशा देने में समर्थ नहीं रह गये हैं।

माँ-बाप डरते हैं कि कहीं बच्चे उनकी नकल न करने लगें। लेकिन बच्चे नकल करेंगे ही। कभी लाख में एकाध बच्चा होता है जो नकल नहीं करता और खुद जीता है। लेकिन वह कभी होता है, वह अपवाद है। उसका कोई हिसाब नहीं रखा जा सकता। अधिकतर बच्चे तो नकल करके ही जीयेंगे। बाप डरता है कि कहीं मेरी नकल न कर ले। माँ डरती है कि लड़की कहीं मेरी नकल न कर ले, नहीं तो बिगड़ जाय, क्योंकि सारा मनोवैज्ञानिक कह रहा है कि बिगाड़ मत देना। और मजा यह है कि वे बच्चे तो नकल करेंगे ही। तब वे किसी की भी नकल करते हैं और वह नकल जो परिणाम ला रही है वह हमारे सामने है।

कृष्ण ने जब यह कहा अर्जुन से तो उसके कहने का प्रयोजन इतना ही है कि तेरे ऊपर न मालूम कितने लोगों की आँखें हैं। तू ऐसा कुछ कर, तू कुछ ऐसा जी कि जो उनकी जिन्दगी में अनुशासन, मार्ग, प्रकाश और ज्योति बन सके—उनका जीवन तेरे कारण अन्धकारपूर्ण न बन जाय। इससे लोकमंगल सिद्ध होता है।

●

आचार्य रजनीश-साहित्य

क्र०	पुस्तक	भाषा हिंदी	गुज०	मराठी	अंग्रेजी	मूल्य हिन्दी में
१.	साधना-पथ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	३-००
२.	क्रान्ति-बीज	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	४-००
३.	सिंहनाद	हाँ	हाँ	हाँ	...	१-२५
४.	मिट्टी के दीये	हाँ	हाँ	...	हाँ	३-५०
५.	पथ के प्रदीप	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	३-५०
६.	मैं कौन हूँ	हाँ	हाँ	...	हाँ	२-००
७.	अज्ञात की ओर	हाँ	हाँ	...	हाँ	२-००
८.	नये संकेत	हाँ	हाँ	...	हाँ	१-७५
९.	संभोग से समाधि की ओर	हाँ	हाँ	...	हाँ	३-५०
१०.	अन्तर्यात्रा	हाँ	हाँ	...	निर्माणरत	३-५०
११.	शान्ति की खोज	हाँ	निर्माणरत		,,	२-००
१२.	सत्य की खोज	हाँ	...	...	...	३-००
१३.	अस्वीकृति में उठा हाथ	हाँ	...	...	...	५-००
१४.	प्रभु की पगडंडियाँ	हाँ	...	...	निर्माणरत	४-००
१५.	शून्य की नाव	हाँ	...	...	...	३-००
१६.	सत्य की पहली किरण	हाँ	निर्माणरत		...	६-००
१७.	समाजवाद से सावधान	हाँ	,,	...	निर्माणरत	३-५०
१८.	आचार्य रजनीश : समन्वय-विश्लेषण-संसिद्धि	हाँ	(आलोचक डा० रामचंद्र प्रसाद)			७-५०
१९.	अमृत-कण	हाँ	हाँ	हाँ	...	०-६०
२०.	अहिंसा-दर्शन	हाँ	हाँ	...	हाँ	०-५०
२१.	कुछ ज्योतिर्मय क्षण	हाँ	हाँ	...	निर्माणरत	१-००
२२.	नये मनुष्य के जन्म की दिशा	हाँ	हाँ	...	...	०-७५
२३.	सूर्य की ओर उड़ान	हाँ	हाँ	...	...	१-००
२४.	प्रेम के पंख	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	०-७५
२५.	सत्य के अज्ञात सागर का आमन्त्रण	हाँ	हाँ	...	...	१-५०
२६.	नारगोल : युवक-युवतियों के समक्ष प्रवचन	...	हाँ	...	...	०-२५
२७.	क्रान्ति के बीच सबसे बड़ी दीवार (भारत के साधु-संत)	हाँ	...	...	...	०-३०
२८.	न आँखों देखा, न कानों सुना (गोपनीय गांधी)	हाँ	...	...	...	०-१५

क्र०	पुस्तक	भाषा हिन्दी	गुज०	मराठी	अंग्रेजी	मूल्य हिन्दी में
२९.	क्रान्ति की नयी दिशा, नयी बात (नारी और क्रान्ति)	हाँ	...	...	...	०–३०
३०.	व्यस्त जीवन में ईश्वर की खोज	हाँ	हाँ	...	...	०–२५
३१.	युवक कौन	हाँ	...	...	...	०–३०
३२.	युवा और यौन	हाँ	...	...	...	०–३०
३३.	बिखरे फूल	हाँ	...	...	...	०–३५
३४.	संस्कृति के निर्माण में सहयोग	हाँ	...	...	...	०–३०
३५.	विवाह और परिवार	हाँ	...	...	...	१–००
३६.	मन के पार	हाँ	...	...	...	१–००
३७.	ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया	हाँ	...	...	...	४–००
३८.	प्रेम के फूल	हाँ	निर्माणरत	...	निर्माणरत	५–००
३९.	गीता-दर्शन	हाँ	,,	...	,,	५–००

प्रेस में पुस्तकें

४०. जिन खोजा तिन पाइयाँ (कुण्डलिनी-योग पर प्रवचन) २०–००
४१. मैं मृत्यु सिखाता हूँ
४२. महावीर और मैं
४३. प्रेम है द्वार प्रभु का
४४. श्री कृष्ण (जीवन, साधना और सन्देश)
४५. सम्भावनाओं की आहट
४६. जीवन ही है परमात्मा
४७. अन्तर्वीणा
४८. जो घर बारै आपना
४९. क्या है मार्ग ? ज्ञान, भक्ति या कर्म ?
५०. समाधि के द्वार पर
५१. योग : नये आयाम

केवल गुजराती में उपलब्ध पुस्तकें

५२. गांधी मा डोकीयु अने समाजवाद प्रकाशक : युवक क्रान्ति दल, ०–३५
५३. अतीत नी आलोचना अने भावी नु चिन्तन ,, ०–३५
५४. भ्रान्त समाजवाद : और एक खतरा ,, ०–५०
५५. तरुण विद्रोह ,, ०–५०
५६. परमात्मा क्यां छे ? प्रकाशक : आर० अंबाणी एण्ड कं० राजकोट ०–५०
५७. समाजवाद थी सावधान ०–७५
५८. प्रेम, परमात्मा अने परिवार ,, ०–५०
५९. गांधीवादी क्यां छे ? ,, ०–५०
६०. व्यस्त जीवन मां ईश्वर नी खोज ,, ०–६०

६१. गांधीवाद वैज्ञानिक दृष्टिए ,, ०–५०
६२. धर्म अने राजकारण ,, ०–५०
६३. उठ जाग जुवान ,, ०–५०
६४. गांधीजीनी अहिंसानु पुनरावलोकन ,, ०–५०
६५. क्रान्तिनी वैज्ञानिक प्रक्रिया ,, ०–६०
६६. धर्म-विचार नथी उपचार ,, ०–६०
६७. पूर्णावतार श्रीकृष्ण ,, ०–४०
६८. प्रेमनी प्राप्ति संस्कार तीर्थ आजोल ०–४०
६९. अंतर्दृष्टा आचार्य रजनीश (जीवन चरित्र) साहित्यनिधि,अहमदाबाद०–७५
७०. अंतर्दृष्टा आचार्य रजनीश (जीवन प्रसंगो) ,, ०–५०
७१. अंतर्दृष्टा आचार्य रजनीश (ज्ञानवाणी) ,, ०–५०
७२. गीता-प्रवचन (लोकसमाचार विशेषांक) प्रजाबंधु प्रेस, अहमदाबाद १–००
७३. आचार्य रजनीश : कया मार्गे ? (गुजराती आलोचना) ... २–००
आलोचक प्रकाशक : डाह्याभाई नानूभाई नायक, साहित्य संगम, बड़ौदा

विविध पुस्तकें

७४. समाजवादा पासून सावधान (मराठी) जीवन जागृति केन्द्र ०–५०
७५. पूर्व का धर्म, पश्चिम का विज्ञान (हिन्दी) ,, ०–५०
७६. अहिंसा दर्शन (गुरुमुखी, पंजाबी) ,, ०–४०
७७. जीवन जो राज (सिंधी) ,, ०–५०
७८. परिवार-नियोजन एक दार्शनिक चिन्तन (हिन्दी) ,, ०–७५
७९. अभिनव संन्यास (गुजराती) ,, ०–५०
८०. ध्यान (गुजराती) संस्कार तीर्थ, आजोल ०–५०
८१. प्रेम (गुजराती) ,, ०–७५
८२. सूली ऊपर सेज पिया की (हिन्दी) (प्रेस में)
८३. जीवन-क्रान्ति की दिशा सस्ता साहित्य मण्डल २–००

ENGLISH BOOKS BY ACHARYA RAJNEESH

I Translated from Original Hindi :

	Pages	Price
1. Path to Self-Realisation	198	4.00
2. Seeds of Revolutionary Thoughts	232	4.50
3. Philosophy of Non-Violence	34	0.80
4. Who Am I ?	145	3.00
5. Earthen Lamps	247	4.50
6. Wings of Love and Random Thoughts	166	3.50
7. Towards the Unknown	54	1.50
8. From Sex to Super-Consciousness	180	6.00

In Press :

9. The Mysteries of Life and Death
10. Journey Inwards
11. Beware of Socialism
12. God : Many Splendoured Love

II Original English Booklets

13. Meditation : A New Dimension	36	2.00
14. Beyond and Beyond	30	2.00
15. Flight of Alone to the Alone	40	2.50
16. L S D—A shortcut to False Samadhi	28	2.00
17. Yoga : As a Spontaneous Happening	28	2.00

In Press :

18. The Pathless Path
19. The Occult Mysteries of Dreaming
20. What is Yoga ?
21. This Insane Society
22. Freedom From Becoming
23. The Will to the Wholeness
24. The Forgotten Language
25. The Vital Balance
26. The Great Challenge
27. The Open Secret
28. The Silent Music

III Criticisms on Acharyaji

29. Acharya Rajneesh : A Glimpse by V. N. Vora 1.25
30. Acharya Rajneesh : The Mystic of Feeling 20.00